राजनीति विज्ञान

मूल अवधारणाएं एवं सिद्धांत

कक्षा 12 के लिए पाठ्यपुस्तक

लेखक

वी.आर. मेहता

संपादक

नलिनी पंत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो० क० गांधी

हिंदी रूपांतर की समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

वी.आर. मेहता
पूर्व उपकुलपति
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नलिनी पंत
प्रोफेसर (अवकाश प्राप्त)
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

एस.एन.झा
प्रोफेसर, (अवकाश प्राप्त, राजनीति विज्ञान)
जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

आर.के. आंनद
निदेशक
पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वी.पी. पांडेय
रीडर (राजनीति विज्ञान)
पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

एस.सी. झा
रीडर (राजनीति विज्ञान)
ए.आर.एस.डी. कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पूनम प्रसाद
रीडर (राजनीति विज्ञान)
दयाल सिंह (सांध्य) कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उमा आनन्द
रीडर (राजनीति विज्ञान)
भारती महिला कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लीला राम गुर्जर
रीडर (राजनीति विज्ञान)
कोटा मुक्त विश्वविद्यालय
कोटा, राजस्थान

पी.एस. खरे
प्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
अग्रसेन इंटर कालेज, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

एस.एम. शर्मा
प्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
एस.आर.एस.डी.सी. वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
लाजपत नगर
नई दिल्ली

आर.एस. पसरीचा
उपप्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
एम.बी.डी.ए.वी. वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
यूसुफ सराय
नई दिल्ली

अरूण प्रभा जैन
उपप्राचार्य
ऋषभ अकादमी
मेरठ कैंट, उत्तर प्रदेश

मदन साहनी
लेक्चरर (राजनीति विज्ञान)
राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
सेक्टर VII, आर. के. पुरम, नई दिल्ली

विजय लक्ष्मी
वरिष्ठ अध्यापक (राजनीति विज्ञान)
ग्रीन फील्ड्स स्कूल
सफदर जंग एनक्लेव, नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

थैमिचांन वोलेंङ
लेक्चरर
सुनीता दास
सिलेक्शन ग्रेड लेक्चरर
संजय दुबे
रीडर **(समन्वयक)**

हिंदी रूपांतर

उमा आनन्द लीला राम गुर्जर

हिंदी रूपांतर के संपादक

नलिनी पंत

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

इकाई एक
मूल अवधारणा
भारतीय तथा पश्चिम
के परिप्रेक्ष्य में

अध्याय 1
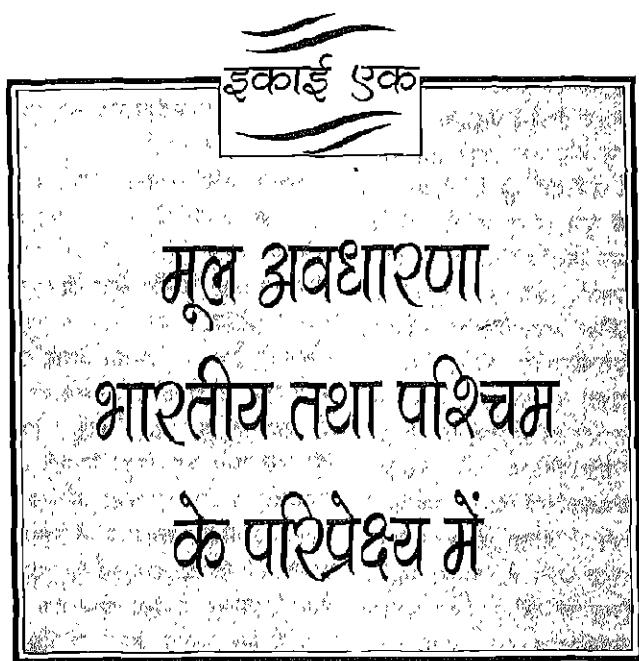
कानून

कानून क्या है?

कानून की विभिन मान्यताएं है जैसे प्राकृतिक कानून, नैतिक कानून, आपूर्ति व मांग का कानून तथा राज्य का कानून। इसका अर्थ वे नियम भी हो सकते हैं जो हमें यह बताएं कि हमें क्या करना चाहिए (नैतिक कानून)। कानून का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रकृति अथवा समाज की कुछ सुनिश्चित नियमितताएं भी हैं (प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक कानून)। कानून का पहला दृष्टिकोण मानकीय (Normative) है तथा दूसरा प्रत्यक्षवादी (Positivistic) है। मानकीय दृष्टिकोण के अनुसार कानून, प्रकृति की प्रक्रियाओं से संबंधित कुछ मौलिक सत्य उद्घाटित करते हैं। दूसरी ओर, प्रत्यक्षवादियों की यह धारणा है कि किसी विशेष समुदाय में आचार के कुछ नियम होते है, जिन्हें कानून कहा जाता है। कानून निहित आदेशों की एक ऐसी व्यवस्था है जो किसी समाज में मानव व्यवहार को नियमित करते हैं। ऑस्टिन के विचार में, कानून किसी भी समाज में समस्त व्यक्तियों को किसी संप्रभु के ऐसे आदेश होते हैं जिनके पीछे राज्य की भौतिक शक्ति और उस पर आधारित दंड-विधान प्रभावी होता है। हॉलैन्ड की मान्यता के अनुसार "कानून बाह्य आचरण का ऐसा सामान्य नियम होता है जो किसी संप्रभु राजनीतिक सत्ता द्वारा प्रवर्तित किया जाता है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार कानून को अधिकारी व अधीनस्थ के मध्य ऐसे संबंध के रूप में देखा जाता है जिसके अंतर्गत अधीनस्थ लोग स्वाभाविक रूप से अधिकारियों की आज्ञा पालन करते हैं।

नैतिक तथा कानूनी नियमों में अंतर करते हुए कुछ सिद्धांतवादियों का यह मत है कि कानून का अस्तित्व उसके नैतिक औचित्य पर निर्भर करता है, जबकि इसके विपरीत कुछ अन्य की धारणा है कि कानूनी औचित्य का प्रश्न विशुद्ध रूप से एक तकनीकी प्रश्न है। इसका निर्णय किसी युग विशेष के कानूनी मापदंडों के अनुरूप ही किया जा सकता है। सही हो या गलत, 'कानून' तब कानून होता है यदि उसे राज्य की कानून-निर्मात्री सभा की स्वीकृति प्राप्त हो। तदापि यह कहा जा सकता है कि निर्मित कानून व नैतिक व्यवस्था में संघर्ष की किसी भी स्थिति में उक्त कानून जनता की दृष्टि में औचित्यरहित होता है। बार्कर ने इसी दृष्टिकोण पर बल देते हुए कहा है कि प्रत्येक कानून में वैधता (Validity) तथा मूल्य, (Value) दोनों समाहित होने चाहिए। 'वैधता' कानून के औपचारिक रूप व प्रकृति पर निर्भर करती है, तथा 'मूल्य' समुदाय के न्याय व औचित्य की भावना पर। इसका अर्थ यह है कि किसी विषय पर कानूनी निर्णय कानून के अनुसार लिया जाए तथा उक्त निर्णय ही हम स्वीकार करें, यद्यपि हमारी स्वीकृति इस तथ्य पर निर्भर करेगी कि संबंधित निर्णय हमारे सामुदायिक न्याय व औचित्य

की भावना पर आधारित है अथवा नहीं। अत: किसी भी कानून को ऐसी समग्रता में देखना आवश्यक है, जिसमें कानून के यथार्थ व मानकीय–दोनों पक्ष परस्पर विलीन हों।

यहां पर विचार का विषय यह है कि किसी कानूनी व्यवस्था में बलप्रयोग व दायित्व के बीच क्या संबंध है। प्रत्यक्षवादियों की यह मान्यता है कि नागरिक, कानून पालन के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। कानून का उल्लंघन करने वालों को राज्य की बलप्रयोगकारी शक्ति से दंडित किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में चाहे कानून न्यायसंगत हो अथवा अन्यायपूर्ण, अच्छा हो या बुरा, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके पीछे राज्य-सत्ता का बल विद्यमान होता है। नागरिकों के पास कोई विकल्प नहीं है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कानून जैसी व्यवस्थाओं में बलप्रयोग की क्षमता कम दिखाई देती है। फिर भी प्रत्यक्षवादी बलप्रयोग को कानून की बाध्यकारी प्रकृति का सार मानते हैं। यह दृष्टिकोण तीन आधारों पर विवादास्पद माना जाता है :

- सभी कानून दायित्व नही थोपते। कई कानून नागरिकों को कुछ शक्तियां व अधिकार प्रदान करते हैं। ऐसे कानून उन स्थितियों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं जहां कानूनी प्रक्रिया में बलप्रयोग का भाव प्रकट नहीं होता।
- कानून के अंतर्गत दायित्व, वास्तव में, कानून के नैतिक औचित्य पर निर्भर करता है। रूसो की यह धारणा थी कि किसी कानून के आज्ञा पालन का हमारा दायित्व केवल नैतिक ही हो सकता है। हम किसी कानून को अपने कर्तव्य-बोध के आधार पर स्वीकार करते हैं। यह कर्तव्य-बोध हमें, हमारी नैतिक चेतना से मिलता है तथा इस पर ही किसी बाह्य शक्ति अथवा सत्ता का कोई दबाव नहीं होना चाहिए। बलप्रयोग व्यक्तियों को दयनीय दासता की स्थिति में ला देता है। इस प्रकार वह कानून का कोई औचित्यपूर्ण आधार नहीं हो सकता। बल कभी भी न्याय का आधार हो ही नहीं सकता। रूसो ने जोर देकर यह कहा था कि "बल के सम्मुख झुकना परिस्थितिगत हो सकता है"। अतः, इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि कानूनी दायित्व, राजनीतिक दायित्व से प्रकट होता है और राजनीतिक दायित्व स्वयं सत्ता के औचित्य संबंधी सामान्य जनविश्वास पर आधारित होता है।
- कानून को समाज की संस्थागत-व्यवस्था के एक अंग के रूप में देखना भी आवश्यक है। न्यायालय समाज की मान्यताओं से हट कर निर्णय नहीं देते। न्यायपालिका के अतिरिक्त समाज में कुछ सुनियोजित संस्थाएं, जैसे, विधायिका, कार्यपालिका तथा राजनीतिक दल भी होते हैं। समूची न्यायिक व्यवस्था, इन समस्त संस्थाओं पर निर्भर करती है। वह समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था के प्रभावों से हट कर कार्य नहीं कर सकती। इसी परिप्रेक्ष्य में यह कहा जाता है कि कानूनी व्यवस्था, अधिकारों के संरक्षण और सभी के लिए सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने के उद्देश्य से जुड़ी हुई है। ये उद्देश्य कानूनी दायित्व आरोपित करने का आधार होते हैं न कि केवल इन दायित्वों का परिणाम। कानून पालन का हमारा दायित्व मुख्यत: इस बात पर निर्भर करता है कि कानून किन लक्ष्यों को समर्पित है और वह न्याय, नैतिकता और निष्पक्षता के आधार पर नागरिकों को क्या सामान्य-भाव सुलभ कराता है।

अत: ड्वॉर्किन के अनुसार किसी भी कानून में 'सिद्धांत' और 'नीति' दोनों समाहित होते हैं। जहां

सिद्धांत अधिकारों के समरूपी होते हैं वहीं नीति उपयोगिता की समरूपी। अधिकार, सिद्धांत व न्याय के रूप में उपलब्ध व्यक्तियों के दावे होते हैं जबकि नीतियां संपूर्ण समुदाय की सामूहिक भलाई की परिचायक हैं। कानूनी व्यवस्था में ये दोनों पक्ष समाहित होने चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में, कानून से संबंधित प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण को नैतिक दृष्टिकोण से पृथक नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवादी व्यवस्था में कानून का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण, कानून की सार्वभौमिक व्यवस्था को नकारता है। लेनिन ने एक बार यह कहा था कि वस्तुतः "कानून राजनीति है"। कानून, साम्यवादी देशों, विशेषतः पूर्ववर्ती सोवियत संघ में, 'वर्गीय' कानून तथा 'सर्वहारा' कानून के रूप में माना जाता है। अतः सोवियत व्यवस्था, कानून को वर्गीय विचारधारा की उपलब्धि के उपकरण के रूप में स्वीकार करती थी। उनके अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय कानून भी सोवियत समाज के लक्ष्यों के संवर्द्धन का एक उपकरण था।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर कानून की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन प्रतीत होता है। उसकी व्यावहारिक परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है : "कानून, नियम और नियमन का सामान्यतः स्वीकृत ऐसा समूह है जो किसी मानव समाज में अंततः संबंधों को अनुशासित करता है और जिसका उद्देश्य व्यवस्था की स्थापना और सभी का संतुलित विकास करना है।"

कानून के स्रोत

कानून की उत्पत्ति कहां से हुई? कानून के विविध स्रोत हो सकते हैं। कानून का आदर्शवादी स्रोत, प्राकृतिक कानून है। इसे प्रायः व्यक्ति के 'सही विवेक' के रूप में संबोधित किया जाता है। इस रूप में, कानून से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मानवीय बुद्धि व समझ पर आधारित सार्वभौमिक सामान्य समझौतों को मूर्त रूप दे। प्राचीन भारत में 'धर्म' की अवधारणा ऐसी ही थी। वह कानून के लक्ष्यों को सुनिश्चित करता था। लेकिन प्राकृतिक कानून अथवा 'धर्म-सिद्धांतों' की विषय-वस्तु के संबंधों में बहुत कम लोगों में सहमति प्रकट होती है।

कानून के अन्य स्रोत हैं-संविधान, संविधियां, परंपराएं, संधियां तथा प्रशासनिक नियम व नियमनकारी विविध कानूनी प्रावधान। कार्यपालिका के आदेश तथा न्यायालय के निर्णय भी कानून के स्रोत हैं।

ऑस्टिन के अनुसार, कानून ऐसे संप्रभु का आदेश होता है जो अपने क्षेत्राधिकार में रहने वाले व्यक्तियों से स्वभावगत आज्ञापालन अर्जित करता है। अतः उसकी दृष्टि में 'सही विवेक' की अपेक्षा 'सत्ता' कानून का अधिक उपयुक्त स्रोत है।

कानून के प्रकार

कानून दो प्रकार के होते हैं :

- निजी, और
- सार्वजनिक

निजी कानून उन अधिकारों, वस्तुओं तथा सेवाओं का उल्लेख करता है जो व्यक्ति को राज्य के अस्तित्व पर ध्यान दिए बिना उपलब्ध कराए जाते हैं। इसमें परिवार कानून, संपत्ति कानून तथा उत्तराधिकार के कानून सम्मिलित होते हैं। इन विषयों में राज्य की भूमिका केवल प्रासंगिक कानूनों को मान्यता देने व उन्हें प्रवर्तित करने तक ही होती है।

सार्वजनिक कानून, नागरिकों व राज्य के अधिकारों से संबंधित हैं। सार्वजनिक कानून के कुछ उदाहरण हैं- अंतर्राष्ट्रीय कानून, नागरिक कानून, सांविधानिक कानून, प्रशासनिक कानून। अंतर्राष्ट्रीय कानून सामान्यतः स्वीकृत नियमों व नियमनों का एक ऐसा

समूह है जो राष्ट्रों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों तथा व्यक्तियों के आचार को नियंत्रित करता है। यह उस नागरिक कानून से भिन्न है जो किसी राष्ट्र के अंतर्गत व्यक्तियों व उनके संगठनों के संबंधों को संबंधित करता है। जबकि प्रत्येक राज्य के अपने पृथक नागरिक कानून होते है, अंतर्राष्ट्रीय कानून, समस्त राष्ट्रों और व्यक्तियों के लिए एक ही होता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह दायित्व है कि वह विवादों पर अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अंतर्गत अपना निर्णय दें।

सांविधानिक कानून ऐसे मानकों, नियमों और व्यवहारों का समूह है जो सरकार तथा उसके सहायक यंत्रों के कार्यों एवं शक्तियों को नियंत्रित करता है। भारतीय व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय है जो सांविधानिक कानूनों के अंतर्गत उत्पन्न विवादों पर अपना निर्णय देता है।

इस प्रकार, निजी कानून 'शिष्ट समाज' (Civil Society) का बोध कराता है जबकि सार्वजनिक कानून, राज्य की सत्ता का उल्लेख करता है। समाज में ये दोनों ही कानून विद्‌यमान होते हैं। किसी परिवार को संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता, जबकि संपत्ति का सीधा संबंध कर-कानून, क्षति-कानून तथा अनुबंधों से अविभाज्य रूप से जुड़ा होता है। इसी कारण कुछ लोगों का यह विश्वास है कि कानून के विभिन्न रूपों में कोई विभेदीकरण नहीं हो सकता।

सार्वजनिक और निजी कानून में चाहे कोई भी अंतर क्यों न हो, यह निश्चित है कि कानून प्राय: सार्वभौमिक मानवीय आवश्यकता है। कोई भी समाज कानूनी व्यवस्था के बिना जीवित नहीं रह सकता। हमारे पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए संस्थाएं, नियम एवं नियमनों का एक कार्यशील ढ़ांचा आवश्यक है। कानून के बिना किसी भी समाज में पूर्ण अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। इसीलिए कानून के शासन को सभ्य जीवन का सार माना जाता है। कानून, हमारे आपसी संबंधों को निश्चितता प्रदान करता है। वह इस बात पर बल देता है कि कानून अपनी प्रकृति में इतने सामान्य होने चाहिए कि उनके प्रयोग से निरंकुशता का आभास न हो। कानून इस बात पर भी बल देता है कि कानून के समक्ष सभी पूर्णत: समान हों तथा व्यक्ति व अधिकारी, दोनों ही कानून के प्रति समान संगति प्रदर्शित करे।

हमें यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि सभी कानून, मानव कल्याण के अनुकूल नहीं होते और न ही हमारे अधिकारों का पोषण करते हैं। हर कानून व्यवस्था से उपेक्षित लोगों की सहायता नहीं करता है। कुछ कानून अनिष्टकारी भी होते हैं जो मानवता और हमारी स्वतंत्रता को क्षति पहुंचाते है। 1919 का 'रॉलेट अधिनियम' ऐसा ही एक कानून था जिसके परिणामस्वरूप जलियांवाला बाग हत्याकांड हुआ।

कानून तथा नैतिकता

कानून तथा नैतिकता का पारस्परिक संबंध जटिल है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, कानून के विविध पक्ष उतने सरल नहीं होते जितने कि वे दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त, स्वयं नैतिकता की प्रकृति के विषय में भी सहमति का अभाव है। नैतिकता कैसे गठित होती है, इस बात का उल्लेख यहां अनुपयुक्त है। यहां तो केवल नैतिकता तथा कानून के संबंधों का ही संक्षिप्त उल्लेख करेगें।

सिनिक्स यह मानते है कि कानून तथा नैतिकता का कोई संबंध नहीं है। कानून, निश्चित व वस्तुनिष्ठ है और उसका उस नैतिकता से कोई सरोकार नहीं जो अपनी मूल प्रकृति में अस्पष्ट व विषयगत होती है। उनके अनुसार कानून का मूल्यों से कोई संबंध नहीं होता। 'कल्याण' अथवा 'न्याय' के भाव कानून की विषयवस्तु में नहीं आते। कानून का सरोकार वास्तव

में 'क्या है' से होता है। नैतिकता की भांति वह 'क्या होना चाहिए' से कोई संबंध नहीं रखता। यह तर्क दिया जाता है, कि नैतिक विचार अनिवार्यत: विवादास्पद होते हैं और उनके संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति असहाय होता है। परंतु कानून के मामले में अधिनिर्णय के लिए न्यायालय विद्यमान होते हैं जो कानून की सुदृढ़ व स्पष्ट व्याख्या करते हैं।

यह सही है कि दोनों शब्दों (कानून व नैतिकता) से एक ही अर्थ का बोध नहीं होता। कोई चीज कानूनी दृष्टि से सही होते हुए भी नैतिक रूप से गलत हो सकती है। जब हम यह कहते है कि अमुक कार्य कानूनी है तो हमारा प्रयोजन केवल यह स्पष्ट करना होता है कि वह कार्य वर्तमान कानून से संगत है। जब हम यह कहते है कि अमुक कार्य नैतिक है तो हमारा उद्देश्य यह मत अभिव्यक्त करना होता है कि उक्त कार्य चाहे सामयिक न हो परंतु वह नैतिक दृष्टि से सही होता है। यह हमें कानूनी व नैतिक पक्षों में अंतर स्पष्ट करने में सहायता पंहुचाता है।

तदापि यह स्पष्ट होना चाहिए कि कभी-कभी नैतिक व कानूनी मान्यताएं परस्पर व्यापी होती हैं। वास्तव में, नैतिक मान्यताओं ने कानून के निर्माण व प्रवर्तन को प्रभावित किया है। साथ ही स्वयं नैतिकता भी कानूनों से निर्धारित हुई है। दोनों परस्पर अंत:क्रियाशील होते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम देश के कानूनों का पालन करें। परंतु, यदि कानून नैतिक पक्षों से रिक्त हों तो वे प्रभावशाली नहीं हो सकते। कानूनी व्यवस्था में व्याप्त 'मूल्य' व 'औचित्य' की धारणाएं वस्तुत: जनता की दृष्टि में नैतिक होने से बंधी हुई हैं।

एक अन्य अर्थ में भी नैतिकता कानून के संदर्भ में प्रासंगिक है। जब कभी भी कोई कानून अस्पष्ट होता है, तो न्यायाधीश संबंधित प्रश्नों के समाधान व अधिनिर्णय के लिए प्राकृतिक कानून, समता व न्याय सरीखी अवधारणाओं का प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर ऐसी स्थितियां भी उत्पन्न हो सकती हैं जब कानून को नैतिक मामलों पर भी अपना निर्णय देना पड़े। उदाहरण के लिए विवाह कानून। इन सभी प्रसंगों में कानून संबंधी निर्णय निहित पक्षों के नैतिक चरित्र के संदर्भ में लिए जाएंगे। मानहानि अथवा झूठी निंदा के मामलों पर निर्णय लेने के लिए भी न्यायालय, नैतिक मान्यताओं एवं प्रसंगों का सहारा लेते हैं। वास्तव में, न्यायालय इस बात पर जोर देते हैं कि गवाह शपथ लेकर ही अपनी गवाही दें। यह सब निरर्थक होगा यदि यह मान लिया जाए कि नैतिक दायित्व कुछ नहीं होते। विश्वास और नैतिक उद्देश्य के प्रश्न समय-समय पर उठते ही रहते हैं।

नैतिकता के संरक्षण व प्रवर्तन के लिए भी कानून का प्रयोग किया जाता है। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेते हुए प्राचीन काल में भारतीयों ने 'धर्म' के संदर्भ में कानून पर विचार किया था। कानून को समाज से अलग नहीं देखा-परखा जा सकता। वह वस्तुत: समाज का एक भाग है और इसके ताने-बाने से बुना रहता है। इसीजिए कानून का संबंध हत्या, चोरी, झूठी कसम, पारिवारिक व्यभिचार, आदि से भी होता है। ये सभी कानूनन प्रतिबंधित हैं और नैतिकता के विरूद्ध हैं। हानिकारक क्या है, इसका निर्धारण सामान्यत: किसी समुदाय के समान मूल्यों द्वारा ही किया जाता है।

नैतिकता का कोई एक रूप नहीं होता। नैतिकता के अनेक दृष्टिकोण तथा रूप विद्यमान हैं। इसमें तर्क के विविध स्तर और अवस्थाएं क्रियाशील होती हैं। नैतिकता का एक रूप वैयक्तिक नैतिकता है जिसकी संपूर्ण जिम्मेदारी व्यक्ति अपने ऊपर ले लेता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक नैतिकताएं भी होती हैं जो नैतिक व्यवहार के सामाजिक पक्ष पर बल देती हैं। उन्हें सार्वजनिक नैतिकता भी कहा जाता है। कुछ कानून हमारी वैयक्तिक नैतिकता पर चोट पहुंचा

सकते हैं। उनके विषय में हमें अपने-आप यह निर्णय लेना होता है कि हम ऐसे कानूनों का पालन करें या उनका प्रतिकार करें। इसी प्रकार, कुछ कानून, सामूहिक नैतिकता जैसे कबीलों की नैतिकता से भी असंगत हो सकते हैं। इस बात पर आम सहमति है कि जहां तक संभव हो, राज्य को व्यक्तिगत नैतिकता का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। जहां तक सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न है, राज्य का नैतिकता से संबंध जटिल है। कभी-कभी कानून सार्वजनिक नैतिकता को समाहित करता है, उसके नाम पर वह किसी सुनिश्चित व्यवहार का प्रतिपादन भी करता है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे विषय भी हो सकते हैं जब हमें यह ज्ञात हो कि अमुक वस्तु सार्वजनिक नैतिकता के विरूद्ध है परंतु फिर भी हम यह नहीं चाहते कि राज्य अपने प्रयासों से उसका प्रवर्तन करे। झूठ बोलना सभी नैतिक सिद्धांतों के विरूद्ध है, लेकिन शपथ लेकर न्यायालय में झूठ बोलने के अतिरिक्त वह कानून द्वारा कहीं और प्रतिबंधित नहीं है। ऐसे कानून बनाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है जिनका प्रवर्तन मुश्किल हो या जिनका सभी लोगों द्वारा अनुकरण नहीं किया जा सके। इसी प्रकार, बहुमत का समर्थन प्राप्त किए बिना कानूनों को पारित करना भी ठीक नहीं है। ऐसा कानून, प्रवर्तन-प्रक्रिया में केवल बहुत अधिक कष्टप्रद ही नहीं होगा बल्कि उससे कानूनीव्यवस्था की प्रभावशीलता के प्रति जनविश्वास भी विचलित हो जाएगा।

कभी यह भी हो सकता है कि कानून सामूहिक नैतिकता का प्रतिगामी हो। ऐसे मामलों में यह सवाल उठ सकता है कि क्या वह हमारा नैतिक दायित्व है कि हम ऐसे कानून को मानें क्योंकि कानून न केवल व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए आवश्यक है बल्कि कुछ अंशों व अर्थों में वह अच्छे जीवन के लिए भी जरूरी है। यह ध्यान रखना प्रासंगिक है कि कानून नैतिकता प्रवर्तित कर सकता है, और कुछ विषयों में तो उसे ऐसा करना भी चाहिए। लेकिन राज्य को ऐसा कार्य बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए अन्यथा नैतिकता, व्यवहार की केवल वाह्य कानूनी संहिता ही रह जाएगी। उसकी गतिशीलता और सुखद स्वाभाविकता खो जाएगी। नैतिकता को अनिवार्यत: गतिशील होना चाहिए। उसे हर हालत में सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अनुक्रियाशील होना चाहिए।

अभ्यास

1. 'कानून' शब्द से आप क्या समझते हैं।
2. 'नैतिक कानून' तथा 'राज्य कानून' में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. 'प्रत्यक्षवादी कानून' के सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. कानून के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से है?
5. 'सार्वजनिक कानून' तथा 'निजी कानून' में अंतर बताइए।

अध्याय 2

स्वतंत्रता

'स्वतंत्रता' क्या है?

स्वतंत्रता की अवधारणा को परिभाषित करना कठिन है। यह एक ऐसा शब्द है जिसके अनेक भावनात्मक अभिकल्पित अर्थ हैं। इस शब्द को विविध कालों में पृथक-पृथक रूप से परिभाषित किया गया। परंतु इन सब विविधताओं में उसका एकसमान भाव भी प्रकट होता है।

स्वतंत्रता का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिप्राय यह है कि इससे प्रेरित होकर कोई विवेकशील व्यक्ति बिना किसी बाह्य दबाव के अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर पाता है। इस अर्थ में स्वतंत्रता हमारे व्यक्तित्व के स्वतंत्र व मुक्त विकास की एक अनिवार्य अवस्था है। इसके अभाव में हम वह सब कुछ नहीं पा सकते जिसे हम विवेकयुक्त और सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। स्वतंत्रता पाने का अर्थ है अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करना, अपने सपनों को साकार करना और अपनी क्षमता को कार्य-रूप देना। यही मानव्रता का सार है। इससे हमारी जिम्मेदारियों को ठोस आधार मिलता है। यह वह आदर्श है जिसकी हम सब कामना करते हैं।

कोई व्यक्ति तब ही स्वतंत्र माना जाता है जब वह दूसरे लोगों से प्रतिबंधित न हो। स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है कि हमें कुछ करने की स्वतंत्रता मिले या हम 'अपनी शक्तियों का सही प्रयोग कर सकें। जब हम वह सब कुछ कर पाते हैं जो करना चाहते हैं तो हम स्वतंत्र कहलाते हैं। इसका अर्थ है दंड के भय से मुक्त रहते हुए दूसरों के आदेश से स्वतंत्र कार्य करने की क्षमता प्राप्त करना। इसके अतिरिक्त कानून के अंतर्गत भी स्वतंत्रताएं विद्यमान होती हैं। नागरिक जब कानून के अनुसार कार्य करते हैं और कानून द्वारा प्रतिबंधित कार्य नहीं करते, तो उन स्थितियों में वे स्वतंत्र कहलाते हैं। स्वतंत्रता का प्रयोग मुख्यत: दो अर्थों में किया किया जाता है: नकारात्मक तथा सकारात्मक।

नकारात्मक स्वतंत्रता

नकारात्मक दृष्टिकोण का यह अर्थ है कि हमें राज्य के अनुचित हस्तक्षेप से बचाव के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता है। हमें एक ऐसा कार्यक्षेत्र प्राप्त हो जहां व्यक्ति दूसरों के अवरोधों से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। यहां यह जानना आवश्यक है कि मानवीय संबंधों में कुछ अवरोध तो ऐसे होते हैं जो स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई अंधा है तो वह अंधेपन के कारण पढ़ नहीं सकता। परंतु कुछ क्षेत्र ऐसे भी होते हैं जहां दूसरे जान-बूझ कर ऐसा हस्तक्षेप करते हैं जिसके कारण हम उन क्षेत्रों में चाहते हुए भी वांछित

कार्य नहीं कर पाते। स्वतंत्रता का क्षेत्र कितना व्यापक हो, इस विषय में कोई आम सहमति नहीं है। विचारक इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि स्वतंत्रता का क्षेत्र असीमित नहीं हो सकता। यदि वह असीमित होगा तो समाज में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। स्वतंत्र कार्य का क्षेत्र कानून द्वारा अवश्य ही प्रतिबंधित होना चाहिए लेकिन व्यक्तिगत स्वतंत्रता का एक न्यूनतम क्षेत्र ऐसा भी होना चाहिए जिसका किसी भी स्थिति में अतिक्रमण न हो। इंग्लैंड में लॉक व मिल तथा फ्रांस में कॉन्स्टेन्ट व टॉकिविले इस मत के प्रतिपादक थे। सर ईज़ाइया बर्लिन के अनुसार "स्वतंत्रता का मौलिक भाव है, दूसरों की दासता, कैद और बंधनों से मुक्ति।" अन्य समस्त भावों में स्वतंत्रता इसका विस्तार मात्र है।

मिल तथा अन्य विचारकों का यह विश्वास था कि जब तक व्यक्तियों को ऐसा क्षेत्र सुनिश्चित नहीं किया जाता तब तक सभ्यता का विकास नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हम सत्य का दर्शन नहीं कर सकते। मौलिकता की कहीं कोई संभावना नहीं हो सकती तथा वास्तविक नैतिक साहस प्रकट ही नहीं हो सकता। मिल का तर्क था कि इस स्थिति में समाज, सामूहिक सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों के बोझ तले कुचल जाएगा।

नकारात्मक स्वतंत्रता का यह दृष्टिकोण निम्नलिखित गंभीर कमियों से ग्रस्त है:

- मिल का यह तर्क अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि स्वतंत्रता के अभाव में सत्य प्रकट नहीं हो सकता। इतिहास यह दर्शाता है कि सत्य के प्रति अनुराग तो उन समुदायों में भी पनपता आया है जहां कठोर अनुशासन होता है।
- नकारात्मक स्वतंत्रता नियंत्रण के क्षेत्र से संबंधित है न कि उसके स्रोत से। ऐसी स्वतंत्रता के उपभोग के लिए लोकतंत्र का होना अनिवार्य नहीं है। वस्तुत: यह संभव है कि कोई तानाशाह या अन्य निरंकुश शासक, अपनी प्रजा को विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करने के बावजूद अपने वास्तविक शासन संचालन में अन्यायपूर्ण हो या वह विषमताओं का पोषण करता हो। अत: यह प्रश्न कि 'कौन शासन करता है?' उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि यह प्रश्न कि 'सरकार मेरे मामले में किस सीमा तक दखल देती है?'
- यह दृष्टिकोण राज्य के कार्यों को न्यूनतम कर देता है। इस दृष्टिकोण से राज्य एक आवश्यक बुराई है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वतंत्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण को सार रूप में इस प्रकार बताया कि "राज्य विद्यमान है क्योंकि समाज में अपराध विद्यमान है, अन्यथा राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।" यह दृष्टिकोण राज्य के कल्याणकारी स्वरूप से मेल नहीं खाता। कल्याणकारी राज्य ऐसी स्थितियों के निर्माण का प्रयास करता है जिसमें सभी अपनी क्षमता एवं संभावनाओं की पहचान कर पाते हैं। स्वतंत्रता संबंधी यह दृष्टिकोण इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता कि धन, भूमि, पूंजी व राजनीतिक शक्ति का अभाव हमारी अपनी शक्तियों की प्राप्ति में गंभीर बाधाएं हैं। नकारात्मक सिद्धांतवादी यह नहीं समझते कि उक्त बाधाएं विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का एक अपरिहार्य भाग हैं और सामान्य-हित प्राप्ति हेतु इन्हें कानून द्वारा हटाया जाना है।

सकारात्मक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण में दो तत्व समाहित हैं :

- इसका एक अभिप्राय संप्रभु सत्ता में भागीदारी का अधिकार प्राप्त करना होता है। सकारात्मक स्वतंत्रता इस प्रश्न के समाधान से संबंधित है कि '*नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप का स्रोत कौन है?*' यह वैयक्तिक आत्मनिर्देशन को अंतिम मानती है। आत्मनिर्देशन का अर्थ है, अपने चेतन उद्देश्यों के अनुसार जीना, स्वयं अपने आप *निर्णय व आचरण करना न कि दूसरों के निर्णयों* व आचरणों के अनुसार चलना।
- सकारात्मक स्वतंत्रता का दूसरा अर्थ है 'विवेकशील-आत्म' (rational self) की *स्वतंत्रता*। रूसो व *अन्य आदर्शवादियों* की यह धारणा थी कि व्यक्ति विवेक-संपन्न है तथा यह गुण उसे अन्य प्राणियों से पृथक करता है। उन्होंने 'विवेकी-आत्म' को वास्तविक आत्म की संज्ञा दी क्योंकि यही आत्म-भाव हमें सामाजिक संपूर्ण से तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है। वास्तविक आत्म की पूर्ति हेतु व्यक्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है। रूसो ने हमें 'सामान्य इच्छा' की अवधारणा दी थी। सामान्य इच्छा हम सब में निहित 'सद्-इच्छा' का संश्लेषण व संगठन है। रूसो का यह विचार था कि 'सामान्य इच्छा' हमें आज्ञापालन के लिए बाध्य कर सकती है क्योंकि स्वतंत्रता समस्त व्यक्तियों के पूर्णत: विकसित वास्तविक आत्म से उत्पन्न दबाव का ही दूसरा रूप है।

यह दृष्टिकोण स्वीकार करता है कि व्यक्ति का सच्चा विकास वास्तव में समाज के अभिन्न अंग के रूप में अपनी शक्तियों के विकास पर ही निर्भर है। उसके विचार, उद्देश्य और आकांक्षाएं समाज से पैदा होती हैं और ये सब संबंधित रूप से *अपने क्रम में समाज के विकास* को प्रभावित भी करते हैं। यह तर्क दिया जाता है कि व्यक्ति को जब कभी सामाजिक अस्तित्व से निराशा हो, उसे यह अपेक्षा का अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य से ऐसी स्थिति से बचाव की अपेक्षा करे। अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना ही चाहिए।

सकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी यह दृष्टिकोण पूर्व वर्णित नकारात्मक दृष्टिकोण की एक बड़ी विसंगति से बचाने के लिए सहायता करता है। नकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति की 'विवेकशील तर्क, नैतिक निर्णय व कर्म तथा सुरुचिपूर्ण निर्माण व मनन' की क्षमताओं को पर्याप्त महत्त्व नहीं देता। वास्तव में स्वतंत्रता संबंधी सकारात्मक दृष्टिकोण भारतीय विचार 'स्वराज' के समान है जिसका शाब्दिक अर्थ है अपने ऊपर स्वामित्व (स्व+राज = स्वराज)। स्वराज सभी प्रकार के अन्य प्रभुत्वों से मुक्ति की मांग करता है।

राज्य के हस्तक्षेप से संबंधित उक्त चर्चा का यह अर्थ नहीं है कि राज्य के प्रत्येक हस्तक्षेप से स्वतंत्रता की अभिवृद्धि होती है। अतीत इस बात का साक्षी है कि किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा जाति-विशेष के हित साधन के लिए राज्य-शक्ति का दुरुपयोग भी होता आया है।

स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण में यह भय तो निहित है कि इसमें स्वतंत्रता पर किसी भी प्रकार के आघात को वास्तविक स्वतंत्रता के नाम पर न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के नाम पर कभी-कभी सामान्य इच्छा, वर्ग अथवा राष्ट्र के नाम पर राज्य अति शक्तिशाली माध्यम

त। आते हैं। वे स्वयं वास्तविक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और इसके पश्चात् उनके द्वारा स्वतंत्रता के अतिक्रमण को उचित ठहराया जा सकता है। जितना हम राज्य को अथवा राज्य के प्रवक्ताओं को गरिमायुक्त करते हैं उतने ही अनुपात में राज्य के इन अभिकर्ताओं द्वारा उनके निजी हित के साधन के लिए शक्ति के दुरुपयोग की संभावाएं बढ़ जाती हैं। इसे अनुभव न करने के फलस्वरूप ही स्वतंत्रता के इस सकारात्मक सिद्धांत ने अतीत में विकृत रूप ग्रहण कर व्यक्ति के आत्मविकास के लिए आवश्यक स्वतंत्रता का ही निषेध किया है।

मार्क्सवादी चिंतन स्वतंत्रता के नकारात्मक व सकारात्मक, दोनो दृष्टिकोणों को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता असंभव है। ऐसी व्यवस्था में सभी मजदूरों को विवश होकर अपना श्रम सामूहिक रूप से बेचना पड़ता है। पूंजीवाद, श्रमिकों पर पूंजीपतियों के प्रभुत्व को प्रोत्साहित करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार स्वतंत्रता पाने के लिए यह अनिवार्य है कि राज्य समाज की उत्पादक शक्तियों पर विवेकसम्मत नियंत्रण रखे। उनकी यह धारणा सही है कि दरिद्र या संपत्तिहीन श्रमिक स्वतंत्र नहीं हो सकता। उसकी स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं रहता। उसके पास कोई सौदेबाजी की ताकत हो ही नहीं सकती। यह सब सही होने के बावजूद समाज में स्वयं साम्यवादी संस्थाओं के अत्याचार का खतरा बना रहता है। वहां नौकरशाही और दल, दोनों अत्यधिक शक्तिशाली हो जाते हैं और वे प्राय: समान्य हित की अवहेलना करते दिखाई देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की यह मान्यता है कि स्वतंत्रता मूल्यवान और अनिवार्य है परंतु स्वतंत्रता की कोई एक सर्वस्वीकृत अवधारणा नहीं है। हमारी उपर्युक्त चर्चा से यह संकेत अवश्य मिलता ह कि स्वतंत्र कहलाने के लिए कुछ पूर्व शर्तें निम्नलिखित हैं :

- स्वतंत्रता सभी को आवश्यक रूप से प्राप्त होनी चाहिए। स्वतंत्रता के लिए नियोजन, नियमन तथा नियंत्रण की व्यवस्था आवश्यक होती है। जॉन रॉल्स का यह तर्क है कि हर किसी को व्यापक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा इसका अन्य सभी की स्वतंत्रताओं के साथ ताल-मेल होना चाहिए। इस कथन की व्याख्या करते हुए रॉल्स ने यह स्पष्ट किया है कि हमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार हर हालत में यह सुनिश्चित करना चाहिए कि समाज का सर्वाधिक अभावग्रस्त व्यवित या वर्ग भी एक अनुकरणीय लक्ष्य के रूप में स्वतंत्रता का उपभोग करे। इस दृष्टिकोण का मंतव्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।
- शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त नियंत्रण उपलब्ध होने चाहिए। ये नियंत्रण अधिकार, कानून के शासन तथा समाज की संस्थात्मक व्यवस्थाओं के प्रति निष्ठा के रूप में प्रदान किए जाने चाहिए।
- व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का एक क्षेत्र सुरक्षित होना चाहिए। इस क्षेत्र में बिना पर्याप्त कारणों के राज्य का हस्तक्षेप प्रतिबंधित होना चाहिए।

स्वतंत्रता के प्रकार

स्वतंत्रता के तीन प्रकार हैं :

- राजनीतिक
- आर्थिक, तथा
- प्राकृतिक अथवा नैतिक

राजनीतिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है ऐसे वातावरण का अनुरक्षण जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन में

बिना समुचित व बाध्यकारी कारणों के राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। अत: भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में सरकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि इन स्वतंत्रताओं में सरकारी हस्तक्षेप उस लोकमत को अवरुद्ध कर सकता है जो सत्य का पक्षधर है। इस प्रकार के आश्वासन के अभाव में स्वतंत्रता का कोई उपयोग हो ही नहीं सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता के दो पक्ष है – इसका एक पक्ष तो यह है कि कोई समाज किसी दूसरे समाज के अधीन नहीं होगा। उसको अपने मामलों के प्रबंध में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होगी। हर समाज की अपनी विशिष्ट एवं भिन्न प्रकृति होती है। समाज का यह दायित्व है कि वह अपनी इस प्रकृति की सुरक्षा करे। केवल ऐसी स्थिति में ही कोई समाज सभ्यता की निरंतर बहती धारा में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान कर सकता है। कोई औपनिवेशिक देश या ऐसा देश जो दूसरों पर निरंतर निर्भर हो या दूसरों द्वारा शासित हो, वस्तुत: मृत होता है। अत: उसमें जीवन या जीवन शक्ति दिखाई नहीं देती। प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है और वह केवल तभी विकसित की जा सकती है, जब वह समाज दूसरों पर निर्भर न हो और उसे अपने मामलों के प्रबंध की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। जब लोकमान्य तिलक ने यह कहा था कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" तो उनका अभिप्राय था कि जब तक कोई देश दूसरे के शिकंजे में होता है, वह न तो अपनी प्रतिभा के अनुसार अपना विकास कर सकता है और न ही अपने लक्ष्यों की प्राप्ति।

राजनीतिक स्वतंत्रता का दूसरा पक्ष इस अर्थ पर आधारित है कि राज्य या उसके अभिकर्ता व्यक्तिगत स्वायत्तता में हस्तक्षेप अथवा नियंत्रणों की दृष्टि से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। इसका अभिप्राय एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें व्यक्ति निर्भीक रूप से अत्याचार से मुक्त होकर जीवनयापन करेंगे। इसका एक अन्य अभिप्राय है, मानवीय सनक के शासन के बजाय कानून के शासन की स्थापना।

राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब यह नितांत आवश्यक हो जब संपूर्ण समाज का हित व सुख राज्य से ऐसे हस्तक्षेप की कोई मांग करता हो। उक्त मान्यताओं से अलग कोई भी अन्य अविवेकी हस्तक्षेप, वैयक्तिक स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है। ऐसे हस्तक्षेप से लोग केवल कठपुतलियां या निष्प्राण यंत्र बनकर रह जाते हैं। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन केवल तभी करते हैं जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि राज्य उनके जीवन को उन्नत करने की दिशा में क्रियाशील है। जिस क्षण यह भाव लुप्त हो जाता है, असंतोष, अराजकता, बल्कि कभी-कभी तो हिंसक उपद्रव भी राज्य पर अधिकार जमा लेते हैं। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिससे या तो राज्य में सुधार असंभव हो जाता है और या उससे राज्य को एक नया जीवन तथा बल प्राप्त होता है।

आंतरिक पक्षों की दृष्टि से राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राय: राज्य के विषयों में नागरिकों की सहभागिता से जोड़ा जाता है। निस्संदेह, यह भागीदारी राजनीतिक स्वतंत्रता का एक महत्त्वपूर्ण अंश है परंतु उसके अन्य अंश भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, यदि लोकतंत्र में राज्य मशीनरी स्वार्थी और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के हाथ में हो या ऐसे सरकारी अफसरों के नियंत्रण में हो जो सामान्य जनकल्याण की घोर उपेक्षा करते हुए केवल अपनी स्वार्थसिद्धि में लिप्त हों, तो ऐसी व्यवस्था में वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता का सर्वथा अभाव होगा। यदि वह होगी भी तो केवल एक ढोंग के रूप में

होगी। यह सही है कि हमें मतदान का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए ताकि हम अपनी सहमति को कार्य रूप दे सकें, परंतु हमारा यह अधिकार किसी ऐसे समाज में निरर्थक होगा जहां सरकारी अधिकारी मतदान पेटियों में हेरा-फेरी करते हों या राजनीतिज्ञ उन सभी हथकंडों को अपनाते हों जिनसे लोकतंत्र मात्र दिखावा प्रकट होता हो। उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैंड के इतिहास से या आज के भारत या पाकिस्तान अथवा अन्य कुछ अल्प-विकसित देशों से परिचित कोई भी व्यक्ति आज ऐसे शासकों अथवा राजनीतिज्ञों के अस्तित्व को तुरंत स्वीकार करेगा जो त्याग-भावना से ओत-प्रोत हों, जिन्हें समाज की बुनियादी जरूरतों को समझने की योग्यता हो तथा जो जनहित को प्राप्त करने के लिए पूरी तरह समर्पित हो। कोई भी ऐसा राज्य लंबे समय तक टिक नहीं सकता जो समाज के सामान्य कल्याण से अपनी सत्ता का सामंजस्य बिठाने की दिशा में प्रयत्नशील न हो। यदि इन दोनों में सामंजस्य हो तो समाज फलता-फूलता है और उससे जीवन के उत्तम पक्षों की अभिवृद्धि होती है। यदि इन दोनों में विद्वेष हो तो कभी न कभी इनमें से कोई एक पक्ष या दोनों ही पक्ष नष्ट हो जाते हैं। किसी स्वामी-हंता दैत्य (Frankenstein's monster) से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह पूर्णत: स्वतंत्र जनता के सत्य को साकार करेगा। वही राज्य चिरस्थायी हो सकता है जो सामान्य सुख को अपना सुख समझे और उसे व्यवहार में लाने की दिशा में प्रयास करे।

नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण अंश है। यह लोकतांत्रिक देशों में सभी नागरिकों को उपलब्ध है। हमारा संविधान स्वयं इसको सुनिश्चित करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह देश के न्यायालयों में कानून के सम्मुख समान हो। किसी को भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। हमारे देश में अब कोई भी जागीरदार अथवा जमींदार नहीं है जो विशेषाधिकारों का दावा कर सके। नागरिक स्वतंत्रता की सबसे महत्त्वपूर्ण सुरक्षा बंदी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) याचिका है। कोई भी व्यक्ति बंदी बनाए जाने पर इस याचिका का प्रयोग कर सकता है। डायसी के शब्दों में "यह एक ऐसा आदेश है जो उस व्यक्ति पर लागू होता है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को बंदी बना रखा हो। इस आदेश द्वारा उस व्यक्ति से यह कहा जाता है कि वह बंदी को सशरीर न्यायालय में प्रस्तुत करे। इसलिए इस याचिका को बंदी-प्रत्यक्षीकरण कहा जाता है। बंदी को इस प्रकार सशरीर प्रस्तुत किए जाने पर न्यायालय यह निर्धारित करता है कि उसे किस आधार पर बंदी बनाया गया है। इस प्रकार, न्यायालय को यह अवसर मिलता है कि वह कानून के नियमन द्वारा उस बंदी के संबंध में कोई उपयुक्त कार्रवाई कर सके"। हर व्यक्ति को तब तक निर्दोष माना जाता है जब तक कि उसका अपराध सिद्ध न हो जाए। नागरिक स्वतंत्रता की मांग है कि किसी बंदी पर कानून-विशेष के उल्लंघन का अभियोग, अनिवार्यत:, सिद्ध किया जाना चाहिए अन्यथा उसे रिहा कर देना चाहिए। किसी भी अधिनायकवादी व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति को रातों-रात बंदी बनाया जा सकता है, उसे नजरबंदी-शिविर में रखा जा सकता है या उसे संरक्षणात्मक हिरासत (Protective Custody)में रखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के पास शक्ति के इस निरंकुश प्रयोग के विरुद्ध कोई उपचारात्मक उपाय नहीं होता। इन व्यवस्थाओं में न्यायपालिका के स्थान पर कार्यपालिका

यह निर्णय लेती है कि अमुक व्यक्ति को रिहा कर दिया जाए या उसकी हिरासत बनी रहे।

भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए स्वतंत्र है। इसमें भाषण, प्रकाशन की स्वतंत्रता तथा सार्वजनिक अभिव्यक्ति सम्मिलित हैं। इसका यह भी अर्थ है कि नागरिकों को अंतःकरण की स्वतंत्रता प्राप्त हो, तथा वे पारस्परिक संबंधों में सहिष्णुता का परिचय दें। हमारी भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मुख्य स्रोत प्राचीन यूनान है। स्वयं हमारे कानून-निर्माताओं ने इसकी महत्ता पर बल दिया था परंतु इसकी सर्वोत्तम प्रस्तुति प्राचीन यूनान में ही हुई थी। वहां सुकरात ने इसकी रक्षा के लिए प्रथम बलिदान दिया था। उसका जीवन एक प्रकार से स्वतंत्रता के विरोधाभास को प्रकट करता है। उसे मृत्यु-दंड इसलिए दिया गया था क्योंकि उसके उपदेश व विचार तत्कालीन सरकार को स्वीकार्य नहीं थे। उसने अपने न्यायाधीशों से कहा कि "वे विषय जिन पर आप मुझे लोगों से बात करते हुए रोज सुनते हैं वे व्यक्ति के लिए सर्वाधिक हितकारी हैं।" उसका यह मत था कि कोई ऐसा जीवन, जो इस प्रकार की चर्चा से वंचित हो, जीने योग्य हो ही नहीं सकता।

सुकरात भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में निहित जिम्मेदारियों के प्रति भी पर्याप्त रूप से सचेत था। स्वतंत्रता का निंदात्मक अथवा देशद्रोही उद्देश्यों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि सुकरात यह वचन देता कि वह चुप रहेगा और अपनी अनंत चर्चाओं को बंद कर देगा तो निर्णायक मंडल उसे दोषमुक्त घोषित कर देता, परंतु उसने यह घोषित किया कि "मैं अपने तौर-तरीके नहीं बदलूंगा चाहे मुझे हजार बार क्यों न मरना पड़े।" उसने भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को उचित ठहराया परंतु देशद्रोह के अधिकार को कोई मान्यता नहीं दी। अपने जेल-प्रवास के दौरान देश के प्रति मनुष्य के ऋण की चर्चा करते हुए सुकरात ने क्राइटो को यह बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश का सम्मान करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसे अपने देश की सेवा करनी चाहिए।

सामाजिक स्वतंत्रता का अभिप्राय है कट्टरपंथी अथवा संकीर्णता की हदबंदियों से अथवा स्वतंत्रता के अंधे अनुपालन के किसी भी सामाजिक आवेग से लोगों को मुक्ति दिलाना। बहुमत, समाज में निरंकुश होने की तथा अल्पमत को आतंकित करने की प्रवृत्ति रखता है। अतीत में अनेक महान आत्माएं अनेक बार फांसी के तख्ते पर केवल इसीलिए चढ़ती आई हैं क्योंकि उनके विचार और विश्वास समाज के बहुमत से भिन्न थे। वास्तव में बहुमत की निरंकुशता तो किसी एक व्यक्ति की निरंकुशता से भी कहीं अधिक घातक हो सकती है क्योंकि वह व्यक्ति के जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में घुसपैठ कर सकती है। अतः इस संदर्भ में राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति की स्वायत्तता की दिशा में प्रकट बाधाओं को दूर करेगा और लोगों को अभयदान देते हुए उनकी क्षमताओं का उन्मुक्त संबोधन करेगा।

आर्थिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है दूसरो पर निर्भरता के बिना जीवनयापन की सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति। आर्थिक स्वतंत्रता, किसी भी स्वतंत्र समाज का मूल आधार है। भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की दया पर आश्रित किसी व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं जा सकती कि वह नागरिक सदगुणों की किसी धारणा

अथवा मूल्यों से प्रतिबद्ध होगा। वह तो मानवता के अवसाद से भी वंचित रह सकता है। यह जितना व्यक्ति पर लागू होती है उतनी ही राज्य पर भी। विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भर होकर भी राज्य कभी न कभी आर्थिक लाभ के बदले में अपनी स्वतंत्रता के साथ कोई न कोई समझौता करने को बाध्य होता ही है। लेटिन अमेरिका के देशों का अनुभव इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार भुखमरी, बीमारी और गरीबी के दु:स्वप्नों से डरा-सिमटा कोई व्यक्ति स्वायत्त जीवन नहीं जी सकता। वह समाज में अपने सर्वश्रेष्ठ योगदान हेतु अयोग्य हो जाता है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जीवनयापन की मौलिक वस्तुओं में समस्त संपदाएं या उपभोग के ऐसे साज-सामान सम्मिलित नहीं होते जिनका विविध प्रकारों में हमारी आधुनिक सभ्यता ने विकास कर दिया है। इसका अर्थ तो केवल यह है कि दूसरों की इच्छा पर आश्रित न रहते हुए अपनी रोज की दाल-रोटी का प्रबंध किया जा सके। इस संबंध में लास्की का यह मत उल्लेखनीय है कि "कुछ लोगों के अनावश्यक खर्चे से पहले सबके लिए पर्याप्तता होनी चाहिए।" कोई व्यक्ति जो सुबह से शाम तक लगातार रोटी जुटाने की चिंता में हो, जो हताश और अज्ञानी हो और निरुद्देश्य जीता हो तथा जिसका जीवन दूसरों की इच्छा पर निर्भर हो, वह अपनी स्वायत्तता का उपयोग कभी नहीं कर सकता। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए उसे कभी-कभी अपने चरित्र और राजनीतिक स्वतंत्रता को भी दाव पर लगाना पड़ता है।

वास्तव में, राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है जब तक उसे आर्थिक स्वतंत्रता का ठोस आधार नहीं मिलता। आर्थिक स्वतंत्रता की इस धारणा का एक निहित अर्थ यह है कि समाज में कार्य करने की इच्छा और क्षमता वाले किसी भी व्यक्ति को इतना कुछ प्राप्त हो कि वह उसके बल पर बिना किसी बाधा के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग ले सके। कोई मजदूर जिसे उसका मालिक बिना किसी निष्पक्ष जांच के नौकरी से हटा सकता है, वास्तव में बहुत कम आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग करता है। किसी भूखे आदमी के लिए लोकतंत्र और उसके अन्य उपकरणों का बहुत कम महत्त्व होता है। मानव इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है और गरीब समाजों में तो प्राय: ऐसा होता ही आया है कि जीवनयापन के साधनों से वंचित व्यक्ति, हिंसक क्रांतियों से अपने समाज को झकझोर देता है।

उदारवादी विचारक सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपनी पूरी सामर्थ्य से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सरकार के समस्त प्रकारों में लोकतंत्र ही श्रेष्ठ है। वे व्यक्तियों के जीवन में राज्य की न्यूनतम भूमिका के भी पक्षधर हैं। उनका यह तर्क है कि अधिकांश मामलों को व्यक्ति की पहल पर छोड़ा जाना चाहिए क्योंकि वैयक्तिक पहल और साहसिकता की भावना ही मानवता की प्रगति में मुख्यत: उत्तरदायी रही है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने तो इस संबंध में यहां तक कहा है कि यदि व्यक्ति द्वारा कोई कार्य बुरी प्रकार से भी किया गया हो तो वह उसे अपनी नैतिक शिक्षा के भाग के रूप करना चाहिए। यद्यपि इस चिंतन की एक बड़ी कमी यह है कि वह उन परिस्थितियों की अनदेखी करती है जो व्यक्ति के स्वयं के नैतिक अस्तित्व को प्राय: नष्ट करती है क्योंकि उन पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण ही नहीं होता। भारत में बहुत लोग ऐसे हैं जो गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं और वास्तव में बहुत सीमित स्वतंत्रता का आनंद उठाते हैं।

समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए मतदान की स्वतंत्रता अथवा धर्म व नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। उन्हें ऐसा संदेह होता है कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न वर्ग का एक साधन बन कर राज्य स्वयं उनके शोषण का उपकरण बन गया है। वास्तव में भूख से त्रस्त व्यक्ति के सम्मुख मतदान का अधिकार या धर्म की चर्चा निरर्थक है। कंगालों का राष्ट्र कभी न कभी अपने उचित दंड का भागीदार होता ही है। निर्धनता से त्रस्त वर्ग या तो पूर्व कर्मों का प्रतिफल मानते हुए अपनी स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लेता है या वह विविध प्रकार के प्रतिरोधों को इस आशा से अपना लेता है कि वे उसके लिए सहायक होंगे। कभी-कभी प्रतिरोध के रूप में वह हिंसक क्रांतियों का रास्ता भी चुन लेता है। ऐसे समाजों में धन की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति बन जाती है। चुनावों में वोट बेचे व खरीदें जाते हैं। भूख से त्रस्त किसी व्यक्ति के लिए उपयुक्त व्यक्ति को अपना वोट देने की अपेक्षा सही या गलत तौर पर धन प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पैसा उसे कम से कम कुछ दिनों की भूखमरी से तो मुक्ति दिलाएगा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक बार महाराणा प्रताप भी अपने लड़के को रोटी के लिए बिलखते देखकर विचलित हो गए थे तथा उस कमजोर क्षण में उन्होंने सम्राट अकबर की अधीनता मानने की भी ठान ली थी। यदि महाराणा प्रताप के जीवन में ऐसा कमज़ोर क्षण आ सकता है तो साधारण व्यक्तियों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे ऐसी विषम परिस्थितियों में अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा करेंगे।

इमेनुएल कान्ट, एक जर्मन आदर्शवादी विचारक की दृष्टि में नैतिक स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वायत्तता है ताकि हम अपने आप स्वयं के मालिक बन सकें। नैतिक स्वतंत्रता सार्वभौमिक लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयासों का ही दूसरा नाम है। ये वे लक्ष्य हैं जो किसी समाज को चरित्र व एकात्मकता प्रदान करते हैं। नैतिक स्वतंत्रता आत्म-त्याग व आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया से अर्जित की जा सकती है। यह प्रक्रिया जीवन के उस भाव में निहित है जिसे प्राचीन भारतवासियों ने जीवन की सात्विक प्रवृत्ति का नाम दिया था। अंत में विवेचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी राज्य का बल न तो संपत्ति पर निर्भर करता है और न ही शस्त्रों पर। यह जनसंख्या पर भी आधारित नहीं है। वास्तव में, राज्य का सच्चा बल तो नागरिकों के सामान्य हित व कल्याण के प्रति त्याग-भाव पर निर्भर होता है।

नैतिक स्वतंत्रता के संदर्भ में यह स्पष्टीकरण भी नितांत आवश्यक है कि वह संसार के कोलाहल से अलग सन्यासियों की स्वतंत्रता नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारे चारों ओर का संसार तो वास्तविकता है और शायद सर्वोच्च वास्तविकता भी। यदि संसार के परे कुछ है भी, तो हमें उसकी जानकारी नहीं है। अत: नैतिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है निजी जीवन में भावावेशों का परस्पर तादात्म्य। यह सद्भाव सात्विक अथवा रचनात्मक दृष्टिकोण द्वारा अर्जित किया जा सकता है। सामाजिक जीवन में ये सात्विक तौर-तरीके किसी व्यक्ति के समाज के प्रति प्रेम, त्याग, मैत्री व सहानुभूति की भावना में अंतर्निहित होते हैं। इस अर्थ में प्रयुक्त नैतिक स्वतंत्रता, राज्य के क्षेत्राधिकार के बाहर है। राज्य, नैतिक जीवन की प्राप्ति से जुड़ी समस्त अनिवार्य अवस्थाओं को उपलब्ध करा सकता है लेकिन यह स्वयं किसी ऐसे व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता जिसकी न तो ऐसा बनने की क्षमता हो न ही इच्छा। अत: जहां तक राज्य का

संबंध है, वह तो केवल ऐसा वातावरण ही निर्मित कर सकता है जिसके अंतर्गत व्यक्ति उपयुक्त सभी गुणों को प्राप्त करने व विकसित करने के अवसर पा सके। राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता तब तक निरर्थक है जब तक कि उनसे नैतिक स्वतंत्रता के अभीष्ट उद्देश्यों को पाने के अवसर उपलब्ध न हो। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि किसी भी ऐसे समाज में नैतिक स्वतंत्रता का विचार पनप नहीं सकता जहां या तो मशीनी अनुशासन विद्यमान हो या वह समाज गरीबी का शिकार होते हुए भी पैसे की अंधी होड़ में सम्मिलित हो।

कानून और स्वतंत्रता

कानून यह प्रतिपादित करता है कि कोई नागरिक क्या करने के लिए और क्या न करने के लिए स्वतंत्र है। राज्य बाध्यकारी शक्ति पर नियंत्रण रखते हुए व्यक्ति और समूह के रिश्तों में बलप्रयोग का कानूनन निषेध करते हुए सभी को स्वतंत्रता उपलब्ध कराता है। स्वतंत्रता का अर्थ मनमाने ढंग से सब कुछ करने की स्वतंत्रता नहीं है। हम प्राय: अपनी मांगों को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से पूर्णत: स्वतंत्र समाज तो संभव हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति तो अराजकता उत्पन्न करेगी जिसमें केवल बलशाली ही स्वतंत्रता का प्रयोग कर सकेंगे। पूर्ण स्वतंत्र तो केवल शून्य की स्थिति में ही हो सकते हैं। जहां किसी अन्य व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। ऐसा इस कारण क्योंकि ज्यों ही अन्य व्यक्ति होंगे तो हम अपनी इच्छाओं और मांगों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे पर बलप्रयोग करना शुरू कर देंगे। इस कारण कानून व स्वतंत्रता का परस्पर गहरा संबंध है। कानून एक आवश्यक बुराई हो सकता है। यह भी संभव है कि हम कानून का कम से कम प्रयोग करें लेकिन सब की स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए कानून अनिवार्य हो जाता है।

स्वतंत्रता की अभिवृद्धि के लिए कुछ प्रतिबंध आवश्यक है। कभी-कभी कानून सार्वजनिक हित के लिए लोगों को मर्यादित करता है। उदाहरण के लिए, कॉपीराइट का कानून, व्यक्ति के भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को मर्यादित करता है। यदि कोई ऐसा कानून न हो तो लेखकों को उनके श्रम का फल नहीं मिल सकेगा। इसी प्रकार, सभी के लिए समान व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए किसी न किसी की कुछ न कुछ स्वतंत्रता को तो प्रतिबंधित किया ही जाता है। हम इस बात पर बल देते है कि एक प्रकार की वस्तु के लिए हर किसी से एक ही दाम वसूल किए जाएं। हम लोगों को ऐसे स्कूल खोलने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते जो जाति, धर्म, भाषा अथवा समुदाय के आधार पर भेद-भाव करते हों।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक कानून स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं होता। कानून का प्राय: दुरुपयोग भी हुआ है। सभी कानून विवेकशील और न्यायपूर्ण नहीं होते। कभी ऐसा भी हो सकता है कि अधिकारी सही इरादे से कानून का निर्माण करें, लेकिन इस बारे में मूल निर्णय गलत हो सकता है। यह भी संभव है कि न्याय के लिए लोगों की न्यायालयों तक पहुंच न हो सके और ऐसी स्थिति में कार्यपालिका की इच्छा के अतिरिक्त विवाद-समाधान का कोई अन्य तरीका ही न उपलब्ध हो पाए। कभी-कभी न्यायालय के निर्णय भी पक्षपातपूर्ण हो सकते हैं। बिना समुचित जांच-पड़ताल के लोगों को मात्र अपराध के आरोप पर सज़ा हो सकती है। इसीलिए शुरू से ही शक्ति के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध स्वतंत्रता का दावा किया जाता

रहा है। इन स्थितियों के अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि कोई सरकार, विद्रोह या अचानक सत्ता-परिवर्तन के परिणामस्वरूप बनी हो या कोई विदेशी शक्ति हम पर शासन करती हो। यदि कोई शासक स्वेच्छाचारी व कानून की परवाह न करने वाले बन जाए तो उसकी अवज्ञा भी मुश्किल हो जाती है। यदि सत्ता पर अंकुश न हो तो हम किसी अनैतिक व निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक क्षमता भी प्रायः नहीं जुटा पाते। मृत्युदंड, यातना व नौकरी छूटने आदि के भय, ये सब ऐसे दबाव होते हैं जो हमें अनैतिक सत्ता की बात मानने को भी बाध्य कर देते हैं।

इसी कारण किसी कानूनी व्यवस्था में नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था की जाती है। सरकार के भय से मुक्ति के लिए नागरिकों को अधिकार व उन्मुक्तियां सुलभ कराई जाती हैं। इसीलिए हम कानून के शासन व न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल देते हैं। अधिकार, वे सीमाएं निर्धारित करते हैं जिनके बाहर कोई शासक जा ही नहीं सकता। वे सरकार के साथ संबंधों में नागरिकों की स्वतंत्रता को परिभाषित करते हैं तथा वे स्वतंत्रता का सबसे सटीक उदाहरण है। अधिकार निरंकुश शक्तियों के प्रयोग से नागरिकों की रक्षा करते हैं। हम नागरिक जीवन में तब तक उन्मुक्त रूप से भाग नहीं ले सकते जब तक हम बलप्रयोग के भय से मुक्त न हों। इस कारण भी हम इस बात पर जोर देते हैं कि कानून के प्रवर्तन की प्रक्रिया उचित होनी चाहिए। कानून की उचित प्रक्रिया के अतिरिक्त किसी भी अन्य बलप्रयोग से बचाव वास्तविक स्वतंत्रता की पूर्व शर्त है। यह उचित प्रक्रिया पहचानने योग्य होनी चाहिए ताकि हर किसी को न केवल निर्णय का ज्ञान हो बल्कि यह भी ज्ञात हो कि वह निर्णय कैसे लिया गया है। इससे नागरिकों में आत्मविश्वास पैदा होता है। उन्हें यह विश्वास होता है कि अधिकारी निश्चित कानून के भंग करने पर ही उन्हें पकड़ सकते हैं। इस दिशा में अधिकारियों की निजी अथवा संकीर्ण मान्यताओं का कोई स्थान नहीं होता। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति पुलिस की निगाह में बुरा हो परंतु उसे यह पक्का विश्वास होता है कि वह पुलिस की धर-पकड़ से तब तक बचा रहेगा जब तक कि वह किसी कानून या संहिता का उल्लंघन नहीं करता।

नागरिक न केवल स्वतंत्र है बल्कि उसे यह ज्ञान भी होना चाहिए कि वह स्वतंत्र है। ये तथ्यात्मक व प्रक्रियात्मक सुरक्षाएं ही व्यक्ति को कानून के दुरुपयोग से बचा पाती है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में सरकारी गतिविधियों के अत्यधिक विस्तार के कारण इस आवश्यकता को हाल ही में अत्यधिक प्रबल रूप से अनुभव किया है।

जब व्यवस्था का दुरुपयोग किया जाता हो, तो नागरिक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अंतिम उपाय के रूप में विद्रोह अथवा प्रतिरोध के अधिकार का प्रयोग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। फ्रांसिसी राज्यक्रांति इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। कानूनी प्रत्यक्षवादी जब कानून के लागू करने के आधार पर किसी कानून के वैध होने की घोषणा करते हैं, तो वे आम तौर पर सही ही होते हैं, परंतु असामान्य स्थितियों में हमें संत अगस्तीन के इस कथन की याद आती है कि न्याय से अछूते राज्य वास्तव में लुटेरों के गिरोहों का विराट रूप हैं। जर्मनी में नाजी व्यवस्था प्रभावी अवश्य थी लेकिन साथ ही वह विक्षिप्त (पागलपन से युक्त) भी थी। इसी प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन भी प्रभावी था परंतु साथ ही साथ वह शोषणकारी भी था। ऐसी स्थितियों में हम केवल इसी भाव से

किसी व्यवस्था की अनुपालना के लिए बाध्य हो सकते हैं कि अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हम गोलियों से भून दिए जाएंगे। ऐसी व्यवस्थाओं में अनुपालना की कोई नैतिक अनिवार्यता नहीं रहती। जैसा कि रूसो ने स्पष्ट किया था, हम केवल ऐसी औचित्यपूर्ण शक्ति की बात मानने को ही बाध्य हो सकते हैं जो किसी समुदाय के औचित्य एवं वैधता की भावना का अनुमोदन करती है। प्रत्येक कानून को वैधता की ऐसी कसौटी पर खरा उतरना होता है।

अभ्यास

1. स्वतंत्रता की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
2. 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' स्वतंत्रता में अंतर बताइए।
3. आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक स्वतंत्रता का क्या अर्थ है?
4. कानून और स्वतंत्रता के परस्पर संबंधों की चर्चा कीजिए।
5. 'भाषण और अभिव्यक्ति' की स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं ?

अध्याय 3

समानता

समानता क्या है?

कुछ लोगों ने समानता को पूर्ण व बिना शर्त सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि सभी व्यक्ति कुछ आधारभूत लक्षणों व विशेषताओं की दृष्टि से समान होते हैं और इस कारण उनसे समान आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए। कुछ लोग इस बात पर बल देते हैं कि 'सभी व्यक्ति प्राकृतिक रूप से समान है।' कुछ धार्मिक परंपराओं तथा विचारकों के अनुसार सभी व्यक्ति समान रूप से ईश्वर की संतान हैं, अत: वे समान व्यवहार के अधिकारी हैं। प्रारंभिक उदारवादी विचारकों का यह तर्क था कि सभी व्यक्ति समान हैं क्योंकि वे समान प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते हैं। उपयोगितावादियों, विशेषत: बेन्थम, की इस संदर्भ में यह मान्यता थी कि सभी व्यक्ति सुख अथवा पीड़ा को समान रूप से अनुभव करते हैं, अत: वे समान हैं। कान्ट के विचार में व्यक्ति इसलिए समान हैं क्योंकि वे नैतिक होने व नैतिक कानूनों को निर्मित करने की समान क्षमता रखते हैं। समाजवादियों की दृष्टि में सभी व्यक्ति 'समान मानवता' के सहभागी हैं, उनकी भौतिक विशेषताएं तथा सामाजिक आवश्यकताएं समान हैं। ये समस्त दृष्टिकोण समान रूप से यह भाव प्रकट करते हैं कि सभी व्यक्ति कुछ निश्चित विशेषताओं और आवश्यकताओं का समान रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारा संविधान भी जाति, वर्ग, पंथ, लिंग अथवा प्रजाति के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध करता है।

उक्त तर्कों व मान्यताओं का निहित अर्थ यह है कि सभी व्यक्ति समान हैं। अत: उनसे समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए। चूंकि व्यक्ति मूलत: भिन्न सामाजिक परिवेश में पाए जाते हैं, इसलिए समानता वास्तविक जीवन में असंभव है। उदाहरण के लिए, परिवार की प्रकृति व उसका स्तर निश्चित रूप से किसी बच्चे के चरित्र पर अपना प्रभाव छोड़ता है। जब तक इस प्रकार की परिवार व्यवस्था चलती रहेगी तब तक पूर्ण समानता स्थापित करना असंभव है।

इस प्रकार, प्रासंगिक आधारों पर व्यक्तियों में निहित अंतर अथवा असमानताओं को प्राय: न्यायसंगत माना जाता है। अरस्तू ने सद्गुणों के आधार पर समान विषयों में अंतर निर्धारित किए थे। उदाहरण के लिए कुछ गणित में प्रवीण होते हैं तो कुछ बांसुरीवादन में। अत: पहली श्रेणी के लोगों को गणित में प्रशिक्षण देना जरूरी है जबकि दूसरी श्रेणी के लोगों को अच्छी बांसुरी प्रदान करने की आवश्यकता है। विभिन्न व्यक्तियों की भिन्न कार्यक्षमताओं के आधार पर ही जातिव्यवस्था को न्यायोचित ठहराया गया था। कुछ समसामयिक समतावादी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के आधार इसे उचित मानते हैं। इन समस्त प्राकृतिक विषमताओं के बावजूद सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार करना ही वांछनीय है। अन्य समस्त बातें अतार्किक हैं।

आवश्यकताओं, सद्‌गुणों अथवा योग्यतासंबंधी तर्क का प्राय: अवसरों की समानता से जोड़ा जाता है। यह संभव है कि किसी बच्चे में प्रतिभा हो, परंतु उसके माता-पिता की गरीबी उसकी प्रतिभा का विकास करने में बाधक हो सकती हैं। इस कारण से 'प्रकृति' तथा 'लालन-पालन' दोनों महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। प्लेटो ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जहां समान योग्यता वाले बच्चों को समान अवसर दिए जाते हों। पर्याप्त अवसरों की उपलब्धि का अर्थ है कि सभी को उनके व्यक्तित्व के विकास संबंधी आवश्यक परिस्थितियां और अवस्थाएं प्रदान की जाएं। किसी गरीब का बच्चा केवल इस कारण अपनी विशेष प्रकृति अथवा प्रतिभा के विकास से वंचित न रहे कि उसके माता-पिता निर्धन हैं या उनके पास पर्याप्त साधनों का अभाव है। अवसरों की समानता संबंधी उक्त धारणा स्वतंत्रता व स्वायत्तता के मूल्य को स्वीकार करती है। वह यह मानती है कि व्यक्ति अपनी निजी जीवनशैली को साकार करने के लिए स्वतंत्र है परंतु साथ ही वह इस बात पर भी बल देती है कि व्यक्तियों को ऐसा करने के पर्याप्त समान अवसर मिलने चाहिए।

प्रारंभिक उदारवादियों ने संपत्ति के पूर्ण अधिकार को प्रतिपादित किया था। इस अधिकार की बाद में आलोचना इसलिए की गई क्योंकि यह सामाजिक संसाधनों के वितरण की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देता है। ऐसे वितरण के अभाव में समाज के कमजोर या निर्धन वर्ग अपनी स्वतंत्रता का संवर्द्धन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, हम यह अनुभव करते हैं कि अनुसूचित जाति/जनजातियों के पक्ष में प्रचलित संरक्षित विभेद उनकी स्वतंत्रता व समानता के लिए आवश्यक है।

उदारवादियों ने राजनीतिक समानता पर बल दिया है। उनके अनुसार सभी को समानता के आधार पर राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए। इसके लिए कुछ लोग प्रत्यक्ष लोकतंत्र के पक्ष में तर्क देते हैं परंतु प्रत्यक्ष लोकतंत्र को अव्यावहारिक मानने वाले कुछ विचारकों का यह तर्क है कि आधुनिक राज्य के विशाल आकार के कारण ऐसी लोकतांत्रिक प्रणाली अनुपयुक्त है। विकल्प के तौर पर वे राजनीतिक विकेंद्रीकरण पर बल देते हैं।

मार्क्सवादी तथा समाजवादी, आर्थिक समानता पर बल देते हैं। उनके मतानुसार कुछ संपन्न एवं समृद्ध लोगों को अधिकांश लोगों का भाग्यविधाता नहीं होना चाहिए। वे समाज में व्याप्त सभी प्रकार की असमानताओं की आलोचना करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में ये असमानता कुछ धनिक लोगों के हाथों में शक्ति का केंद्रीकरण कर देती है। कुछ समाजवादी समस्त संपत्ति के राष्ट्रीयकरण के पक्षधर हैं जबकि कुछ अन्य कहते हैं कि उससे नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है। ये नौकरशाही ऐसी स्थिति में संपत्तिवान लोगों का स्थान ले लेती है। इसलिए समाजवादी आर्थिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति के विकेंद्रीकरण पर बल देते हैं।

वास्तविक समता पर आधारित समाज में राजनीतिक नियंत्रण, सामाजिक विभेद तथा आर्थिक अभाव से प्रभावित हुए बिना भी लोगों को अपनी आवश्यकता पूर्ति व क्षमता-प्राप्ति के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

स्वतंत्रता तथा समानता

जैसा कि स्पष्ट है, स्वतंत्रता की सामान्य अवधारणा समानता की अवधारणा से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता, समानता की अनिवार्य दशा है और समानता, स्वतंत्रता की। हम केवल तभी स्वतंत्र हो सकते हैं जब हम स्वायत्त हो और अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निर्धारित करते हों। ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब हम पूर्ण रूप से समान हों। स्वतंत्रता व समानता के इस पारस्परिक संबंध के बावजूद लार्ड एक्टन

जैसे विचारकों ने उन्हें असंगत माना है। स्वतंत्रता संबंधी अपने व्याख्यान में लॉर्ड एक्टन ने यह मत व्यक्त किया था कि फ्रांसीसी क्रांति के दौरान "समानता की प्रबल इच्छा ने स्वतंत्रता की आशा को निष्प्रभावी कर दिया था"। परंतु एक्टन का ऐसा विचार वास्तव में भ्रांतिपूर्ण है। स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों की अनुपस्थिति मात्र नहीं है। यह उससे कहीं अधिक सकारात्मक विचार है। इसका अर्थ है व्यक्ति की स्वायत्तता और अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निर्धारित करने की क्षमता। इसका यह भी अर्थ प्रासंगिक है कि निजी स्वायत्तता अन्य लोगों की वैसी ही स्वायत्तता को प्रतिबंधित नहीं कर सकती। हम सभी अपनी-अपनी क्षमताओं को सहज रूप से पाने के समान अधिकारी हैं। समानता वह परिस्थिति है जिसमें हम इस स्थिति को सर्वाधिक विश्वसनीयता से प्राप्त कर सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि व्यक्तियों को स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है तो हमारा अभिप्राय समान स्वतंत्रता अथवा समान अवसरों की वास्तविकता पर बल देना होता है। इसी कारण समानता को प्रायः न्याय से जोड़ा जाता है। किसी व्यक्ति को केवल उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त होती है जितनी कि वह अन्य लोगों की इसी प्रकार की स्वतंत्रता से संगत होती है। यहां कुछ सुनिश्चित संदर्भों में स्वतंत्रता व समानता के परस्पर संबंधों को निरूपित करना उपयुक्त होगा :

- राजनीतिक समानता की सर्वश्रेष्ठ गारंटी किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था से मिलती है। जैसा कि बेन्थम ने स्पष्ट किया है, किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था से ही प्रत्येक नागरिक को एक संपूर्ण इकाई के रूप में गिना जाता है। यद्यपि हमारे समक्ष अनेक ऐसे राष्ट्रों के उदाहरण विद्यमान हैं जहां लोकतंत्र तानाशाही का शिकार हो गए। संभवतः इसी कारण टॉकविले ने लोकतंत्र व कुलीनतंत्र की समन्वयकारी व्यवस्था को स्वतंत्रता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना था। फिर भी हमारा अनुभव हमें यह बताता है कि शासन के किसी भी अन्य स्वरूप की तुलना में लोकतंत्र, स्वतंत्रता को सबसे अधिक गारंटी प्रदान करता है।
- नागरिक समानता अथवा कानून के समक्ष समानता स्वतंत्रता की अनिवार्य पूर्व-शर्त है। इसका अर्थ यह है कि कानून शासन करने वालों के पूर्वाग्रहों, कुटिलताओं अथवा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोणों पर आधारित नहीं होता। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति व उसकी संपत्ति को सुरक्षा प्रदान करेगा। केवल उसी स्थिति में हम अपनी स्वायत्तता अथवा सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा अर्जित करने की आवश्यक स्थितियों का भरपूर लाभ उठा सकते हैं।
- आर्थिक समानता भी आवश्यक है। प्रायः समस्त कानून और कर हमारी स्वतंत्रता का हनन करते हैं परंतु कभी-कभी वे सामान्य स्वतंत्रता में अभिवृद्धि के हेतु ऐसा करते हैं। समाज में असमानताओं पर अंकुश लगाने वाला कोई समाजवादी व्यवस्थापन वास्तव में स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करता अपितु उससे तो स्वतंत्रता की आवश्यक शर्तें ही परिपूर्ण होती हैं। ऐसे व्यवस्थापन का उद्देश्य किसी जमींदार तथा पूंजीपति के शोषण से किसान तथा मजदूर को मुक्त कराना तथा अधिक समानता स्थापित करना होता है।

स्वतंत्रता व समानता के संबंधों को भलीभांति समझने की दृष्टि से एकाधिकार (Monopoly) की किसी एक स्थिति पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यदि विद्युत की पूर्ण आपूर्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ में आ जाए तो अन्य सभी लोग इस विषय में अपनी स्वतंत्रता खो देंगे। विद्युत आपूर्ति पर नियंत्रण रखने

वाला वह व्यक्ति अपनी इच्छानुसार विद्युत देने की मनचाही कीमत वसूल कर सकेगा। कोई दूसरा व्यक्ति अपनी विद्युत की आवश्यकता पूरी करने हेतु अधिक से अधिक चोरी ही कर पाएगा। यदि विद्युत आपूर्ति के स्वामित्व के अधिकार को सबके लिए समान कर दिया जाए तो उस स्थिति में केवल मूलभूत एकाधिकार की स्वतंत्रता को घाटा होगा, परंतु उसका यह घाटा अन्य सभी के लाभ के बदले में गौण होगा। ऐसे सभी कानून जो आवश्यकताओं व क्षमताओं के अनुरूप समानता को स्वीकार करते हैं वस्तुत: पूरी तरह स्वतंत्रता के अनुरूप होते हैं।

राजनीतिक समानता, नागरिक अथवा कानूनी समानता तथा आर्थिक समानता में पारस्परिक क्या संबंध है? किसी व्यक्ति का नागरिक मामलों में भाग लेने का अधिकार भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना व्यर्थ है। आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता निरर्थक है। आर्थिक समानता के ऐसे प्रभाव से शक्ति व संरक्षण प्रकट होते हैं जिनका प्रयोग करके दूसरों की राजनीतिक समानता को नष्ट किया जा सकता है। आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में कानूनी समानता भी खतरे में पड़ जाती है। कोई गरीब आदमी किसी अच्छे वकील की सहायता नहीं ले पाता अथवा वर्षों चलने वाली कोई कानूनी लड़ाई नहीं लड़ सकता। अत: यह माना जाता है कि अधिकतर लोगों की अधिक से अधिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समानता का होना आवश्यक है।

समानता के महत्त्व के विषय में सब एकमत नहीं है। कुछ आलोचक यह स्पष्ट करते हैं कि अवसरों की समानता स्थापित करने का मूल्य प्राय: बहुत अधिक होता है। यह संभव है कि आय वितरण संबंधी हमारे प्रयास स्वयं आय-वृद्धि के प्रोत्साहन को कम कर दे। ऐसी स्थिति उत्पादन की क्षमता को भी कुप्रभावित करेगी। इसके कारण समाज में प्रतियोगिता और प्रतिस्पद्र्धा बढ़ जाएगी और परिवार की स्वायत्तता पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। यह भी संभव हो सकता है कि समानता के आदर्श का अन्य सामाजिक मूल्यों से कभी-कभी संघर्ष हो जाए। हम समानता के नाम पर लोगों की निजी प्रतिभाओं व चुनी गई जीवन-योजनाओं का स्वयं प्रयोग करने लगे और दूसरे व्यक्ति ऐसा करने से वंचित रह जाएं। समाजवादी संदर्भ में समानता संभवत: नौकरशाही की समस्याएं पैदा कर दे जिससे श्रम व राज्य के बीच की खाई और अधिक बढ़ जाए। इन समस्त संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए अधिकांश समसामयिक समतावादी, लोकतांत्रिक तथा समाजवादी समानता के किसी मिले-जुले रूप पर बल देते हैं। वे एक समतावादी समाज की रचना के लिए आर्थिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति के विकेंद्रीकरण के पक्ष में विविध तर्क प्रस्तुत करते हैं।

अभ्यास

1. 'समानता' शब्द से आप क्या समझते हैं ?
2. 'स्वतंत्रता, समानता की अनिवार्य दशा है और समानता, स्वतंत्रता की', व्याख्या कीजिए।
3. 'कानून के समक्ष समानता' से आप क्या समझते हैं ?
4. 'राजनीतिक समानता' तथा 'सामाजिक समानता' में अंतर स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 4

न्याय

न्याय क्या है?

न्याय शब्द लेटिन भाषा के शब्द जॅस्टिटिऑ (Justitia) (बांधना) और जॅस (Jus) (संबंध) से लिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकारों और कर्तव्यों एवं पारितोषिक तथा दण्ड को यथोचित रूप से वितरण करके संयुक्त करने के विचार से न्याय, व्यक्तियों को उचित या सही संबंधों के क्रम में जोड़ता है। 'न्याय' परस्पर व्यक्तियों में और समानता, स्वतंत्रता तथा सहयोग के सिद्धांतों में सामंजस्य स्थापित करता है। परंपरागत दृष्टि से न्याय का सिद्धांत एक ऐसे सिद्धांत के रूप में माना जाता है जिसमें स्वतंत्रता, समानता आदि सिद्धांतों के मध्य संतुलन और समन्वय हो। ऐसा संतुलन कुछ मूलभूत मान्यताओं के संदर्भ में किया गया है– जैसे, सर्वाधिक व्यक्तियों के लिए सर्वाधिक सुख अथवा समाज के सभी सदस्यों के लिए स्वतंत्रता और समानता की उपयोगिता। इस संदर्भ में यहां उल्लेखनीय है कि न्याय की समन्वयकारी प्रकृति ने ही 'न्याय' को साकार रूप दिया है। हाथ में एक तुला लिए हुए और आंखों पर पट्टी बांधे न्याय की मूर्ति ये दर्शाती है कि कानून के समक्ष सभी समान हैं। ऐसी समानता किसी भी प्रकार के लिंग, धर्म, जाति, संपदा आदि की भिन्नता को महत्त्व नहीं देती है।

हम किसी राज्य के विषय में कोई भी निर्णय उस साध्य के संदर्भ में लेते हैं जिसको कि वह प्राप्त करना चाहता है। प्रायः यह माना जाता है कि राज्य के कानून नागरिकों को न्याय दिलवाने में सक्षम हों, लेकिन न्याय की व्याख्या करना सरल नहीं है। यह एक जटिल अवधारणा है। इसका कभी तो कानूनी और कभी नैतिक रूप में प्रयोग किया जाता है। न्याय, राज्य-कानूनों द्वारा प्रवाहित होता माना जाता है। साथ ही, न्याय की अवधारणा का उद्देश्य संपूर्ण समाज का कल्याण करना भी होता है। न्याय से संबंधित उक्त अवधारणा के संदर्भ में तीन विसंगतियां उल्लेखनीय हैं :

- कानूनी तथा नैतिक न्याय,
- सामान्य व्यवस्था तथा वैयक्तिक हित, एवं
- *अनुदार तथा सामाजिक न्याय।*

कानूनी न्याय का संबंध उन सिद्धांतों और कार्यविधियों से है जो किसी राज्य के कानून द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसी संपूर्ण व्यवस्था न्याय कहलाती है। कभी-कभी कानूनी तथा प्राकृतिक न्याय में अंतर किया जाता है। प्रायः प्राकृतिक न्याय कुछ आधारभूत सिद्धांतों से संबंधित होता है, जबकि कानूनी न्याय का संबंध कानूनों, रीति-रिवाजों तथा मानवीय अभिकरणों द्वारा निर्मित अथवा पारित पूर्व निर्णयों से होता है। दूसरी ओर नैतिक न्याय में, क्या सही है और क्या गलत, मानव के रूप में हमारे अधिकार क्या हैं और कर्तव्य क्या होते है। कानूनी न्याय अधिकतर इन अधिकारों व कर्तव्यों को केवल सुरक्षित ही नहीं करता अपितु, लागू भी करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी न्यायालय में जो कुछ भी होता है वह न्याय ही है। वहां कुछ ऐसा भी

घटित होता है जो कानूनी दृष्टि से तो सही है परंतु नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण होने के कारण उसकी आलोचना भी की जा सकती है। यदि कोई कानून-विशेष न्याय के नैतिक आदर्श की आवश्यकता पूरी करने में असफल हो तो उसे अन्याय कहा जा सकता है। इसी प्रकार, किसी प्रशासनिक व्यवस्था को भी ऐसी स्थिति में अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है जब तक वह निष्पक्ष रूप से न्याय को चरितार्थ न कर सके।

एक ओर न्याय संपूर्ण समाज की सामान्य व्यवस्था का पक्ष लेता है तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को सुरक्षा भी प्रदान करता है। फौजदारी कानून इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसका उद्देश्य न केवल किसी अपराधी को दंड देना होता है बल्कि किसी समाज के स्वरूप को भी सुरक्षित रखना है। व्यक्ति अपराध के संदर्भ में नियत क्षति-पूर्ति अथवा दंड द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध अपने दावों का समाधान करते हैं। परंतु इस प्रक्रिया में समाज की यह सामान्य इच्छा हमेशा व्याप्त रहती है कि वह हानिकारक आचरण के दुष्प्रभाव से बचा रहे।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक कल्याण, व्यक्ति के कल्याण से सदैव प्राथमिकता लेता है। न्याय-व्यवस्था से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करे। न्याय की समस्त सभ्य व्यवस्थाएं इस बुनियादी सिद्धांत पर आधारित हैं कि निर्दोष को सजा न दी जाए। इसके बावजूद, युद्ध जैसी अपवादपूर्ण स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जिसमें कोई राज्य किसी व्यक्ति को राज्य की न्याय धारणा के अनुरूप आचरण करने को बाध्य कर सके। बिना मुकदमें के 'निवारक नजरबंदी' ऐसी ही स्थिति का एक उदाहरण है। अत: न्याय का संबंध व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों से है साथ ही न्याय व्यक्तियों व समूहों के पारस्परिक संबंधों से भी जुड़ा हुआ है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि न्याय का अर्थ 'यथास्थिति' बनाए रखना है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा जान-माल की सुरक्षा करता है। इसे अनुदार न्याय कहा जाता है। न्याय की एक अन्य अवधारणा है जिसे सामाजिक न्याय कहा जाता है। सामाजिक न्याय सही अथवा उचित सामाजिक विचार के क्रम में समाज को सुधारने का प्रयत्न करता है। हमारे समय में यह भूमि वितरण तथा संपत्ति के अधिकार में परिवर्तन करने की दिशा में प्रयत्नशील है। साथ ही यह प्रजाति, लिंग, जाति अथवा पंथ के आधार पर भेदभाव को रोकने के लिए भी प्रयासरत है ताकि राष्ट्रीय संसाधनों और संपदा का समान रूप में वितरण हो सके। सभी न्यायालयों का जन आवश्यकताओं के अनुरूप समय-समय पर अपने न्यायिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की ओर झुकाव है। हमारा उच्चतम न्यायालय संपत्ति के विवादों में बहुत अनुदारवादी दृष्टिकोण अपनाता आया है जबकि नागरिक अधिकारों की रक्षा के संदर्भ में उसका दृष्टिकोण काफी सुधारात्मक रहा है।

प्राय: सभी विषयों में न्याय की अवधारणा को समता और निष्पक्षता के समतुल्य माना जाता है। मौलिक रूप से ये दोनों विचार समानता में निहित हैं। वास्तव में समानता की धारणा कुछ अर्थों में न्याय विषयक किसी भी वैचारिक योजना का केंद्रबिंदु है। हमारा अपना संविधान कानून के समक्ष समानता को न्याय-व्यवस्था का मौलिक आधार मानता है।

इतिहास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में न्याय की दो प्रमुख अवधारणाएं हैं :

(i) सांख्यिक अवधारणा (ii) ज्यामितीय अवधारणा।

न्याय की सांख्यिक अवधारणा

न्याय की दृष्टि में यह सभी को समान भागीदार मानता है। जेरेमी बेन्थम ने कहा था "प्रत्येक को एक गिना जाना चाहिए किसी को भी एक से अधिक नहीं।" इसका अर्थ

यह है कि असमान को भी समान माना जाएगा। यूनानी नगर-राज्यों ने इस नियम का इतना अधिक पालन किया कि कई पद पासा डालकर भरे जाते थे। किसी पद को पाने के लिए प्राय: किसी विशेष ज्ञान अथवा योग्यता की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक उदार लोकतंत्र भी इसी सिद्धांत पर आधारित है।

न्याय की ज्यामितीय अवधारणा

प्लेटो व अरस्तू न्याय की इस अवधारणा के पक्षधर थे। यह आनुपातिक समानता की अवधारणा है। इसका निहित अर्थ है समान लोगों को समान भाग और असमान को असमान भाग। इसका यह भी अर्थ है कि शक्ति और संरक्षण का वितरण व्यक्ति की योग्यता अथवा योगदान के अनुरूप होना चाहिए। जैसा कि अरस्तू ने कहा था, यदि बासुरियां बंटती हैं तो वे उन लोगों में बंटनी चाहिए जिनमें बांसुरी-वादन की क्षमता हो। इसी प्रकार केवल उन्हीं लोगों को शासन करना चाहिए जिनमें शासन करने की क्षमता हो। न्याय की इस अवधारणा के अनुसार लाभ व उत्तरदायित्व, वास्तव में, प्राप्तकर्ता की क्षमता व सामर्थ्य के अनुपात में होने चाहिए। सांख्यिक न्याय कभी-कभी लोकतांत्रिक न्याय माना जाता है और ज्यामितीय न्याय प्राय: कुलीनतंत्रीय न्याय का समकक्ष माना जाता है।

प्लेटो की पुस्तक *रिपब्लिक* में भी न्याय सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। इसके अनुसार आत्मा में निहित न्याय का विचार वास्तव में राज्य में निहित न्याय का ही सादृश्य है। व्यक्ति की आत्मा में निहित न्याय व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को परस्पर संतुलित करता है। इस क्रम में वह व्यक्तित्व के विविध पक्षों जैसे क्षुधा (श्रमिक वर्ग), साहस (सैनिक वर्ग) और विवेक (शासक वर्ग) को समुचित संतुलन और समन्वय उपलब्ध कराता है। प्लेटो की दृष्टि में राज्य के संदर्भ में न्याय, विभिन्न सामाजिक वर्गों में सामंजस्य स्थापित करता है। जब हर वर्ग अपने कार्य से ही संबंधित रहता है तथा केवल वही कार्य करता है जिसके लिए वह प्राकृतिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त है और दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता तो उस स्थिति में राज्य में न्याय चरितार्थ होता है। धर्म से संबंधित प्राचीन भारतीय अवधारणा प्लेटो के न्याय की आवधारणा के इस अर्थ में समान है कि धर्म व्यक्ति को समाज में उसके स्थान और कर्तव्यों का बोध कराता है। यहां यह कहा जा सकता है कि स्वधर्म की चेतना से ही विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार और विशेषाधिकार उत्पन्न होते हैं।

अधिकांश लोग इस बात से सहमत हैं कि समता अथवा निष्पक्षता के रूप में न्याय का अर्थ पूर्ण समानता नहीं है। इसका अभिप्राय तो नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत आनुपातिक वितरण से है। राज्य कुछ विशिष्ट वर्गीकरणों के आधार पर भेदभाव कर सकता है। ऐसा वर्गीकरण लिंग, आवश्यकता, योग्यता अथवा क्षमता के आधार पर हो सकता है। यहां न्याय का अर्थ परिस्थितियों की समानता है अर्थात् समान मामलों को समान रूप से और असमान को भिन्न रूप से लिया जाए।

हमारे संविधान ने कानून के समक्ष समानता को शासन के आधारभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई न्यायाधीश सभी से समान व्यवहार करे। उसे दोषी और निर्दोष में, भेड़ और भेड़िए में तो अंतर करना ही होगा। न्यायाधीश को ऐसा अंतर करने का अधिकार प्राप्त है। निष्पक्षता के सिद्धांत की दो प्रमुख आवश्यकताएं हैं :

- न्यायाधीश को विशेषाधिकारों का पक्षधर नहीं होना चाहिए। उसे किसी का भी इस कारण पक्ष नहीं लेना चाहिए कि वह धनी है या शक्तिशाली। इसी प्रकार उसे किसी को केवल इस कारण दंड भी नहीं देना चाहिए कि वह निर्धन है।

- न्यायाधीश को प्रासंगिक अंतरों के संदर्भ में ही भेदभाव करना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी फौजदारी अदालत में प्रासंगिक अंतर यह होगा कि अमुक अपराधी है या निर्दोष । ठीक इसी प्रकार, अध्यापन के लिए की जा रही नियुक्तियों में प्रासंगिक अंतर का मापदंड यह होना चाहिए कि अमुक व्यक्ति में अध्यापन की क्षमता है या नहीं।

वास्तव में प्रत्येक भेद्‌भाव अनुचित भी नहीं है। कभी-कभी समाज के व्यापक हित में कुछ लोगों के पक्ष में कानून को भेदभाव भी करना चाहिए। रॉल्स के विचारानुसार यदि कानून कमजोर वर्गों का पक्षपात करते हैं तो यह न्यायोचित है। अधिकांश समाजवादी तथा मार्क्सवादी कमजोर तथा श्रमिक वर्ग के शोषण के उन्मूलन को ही न्याय की संज्ञा देते हैं। कई तो इसे अवसर की समानता मानते हैं। जबकि कई मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति को ही न्याय की आधारभूत अवधारणा मानते हैं। भेदभाव को न्याय संगत मानने पर सर्वसम्मति नहीं हो सकती, परंतु यदि राज्य कमजोर तथा दरिद्र वर्गों के हित के लिए कुछ कार्य करता है तो यह स्पष्ट है कि वह ऐसा उन लोगों की उन्नति के लिए कर रहा है। इसे संरक्षणकारी भेदभाव कहा जाता है। इसमें समाज के कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के पक्ष में भेदभाव निहित है। इसमें समाज के कमजोर वर्गों के लिए वरीयता के आधार पर व्यवहार करना भी निहित है। उदाहरणार्थ अनुसूचित जातियों के विरुद्ध पक्षपात करने की व्यवस्था व्यापक रूप से प्रचलित रही है परंतु अब राज्य को यह अधिकार है कि वह उनके पक्ष में भेदभाव कर सकता है। इस प्रकार के पक्षपात के अभाव में ये लोग मानवीय जीवन व्यतीत नहीं कर सकेंगे। ऐसे वर्गों को अधिकार दिलाने के लिए राज्य जो कुछ भी करता है, वह न्यायोचित है। राज्य का ऐसा कार्य 'समता' और 'निष्पक्षता' की परिधि में आता है। दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत रंगभेद के शिकार थे। वहां राज्य व्यवस्था अन्यायपूर्ण थी क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत नहीं था। वहां किसी प्रकार की कोई समानता विद्‌यमान नहीं थी। वहां शक्तिशाली लोग कमजोर से भेद्‌भाव करते थे। दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित रंगभेद नीति, नैतिक रूप से अपराध थी क्योंकि ये शक्तिशाली को कम शक्तिशाली से रंगभेद के आधार पर श्रेष्ठतर मानती थी। भारत में, जाति-व्यवस्था इसलिए बुरी नहीं है कि वह विभिन्न समूहों को परस्पर अलग करती है अपितु, वह इस कारण बुरी है क्योंकि उसमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है जो वंशानुगत आधार पर समाज के कुछ समूहों को अन्य समूहों से श्रेष्ठतर मानती है।

संरक्षणात्मक विभेद का उद्‌देश्य किसी वर्ग-विशेष को लाभ पहुंचाना नहीं है अपितु उसका उद्‌देश्य तो उस वर्ग के लोगों को एक ऐसे स्तर तक उठाना है जहां वे अवसर की समानता का समुचित लाभ उठा सकें और समान आधार पर समाज के अन्य वर्गों का मुकाबला कर सकें।

अतः राज्य, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन में व्याप्त असंतुलन को दूर करने का प्रयास करता है। इस प्रकार राज्य लोगों को रोजगार, प्रसूति लाभ, बीमारी के विरुद्‌ध बीमा तथा वृद्‌धावस्था सुरक्षा उपलब्ध करता है। वह अन्यायपूर्ण विषमताओं को दूर करने के साथ-साथ लोगों की मौलिक आवश्यकताएं पूरी करने की भी चेष्टा करता है। अहस्तक्षेपी उदारवाद (Laissez Faire Liberalism) की मान्यता के अनुसार राज्य का कार्य समाज में केवल प्रतियोगिता को नियमित करना ही है। इसके अनुसार व्यक्ति को उसके हाल पर ही छोड़ दिया गया। इस प्रक्रिया में यदि कमजोर नष्ट भी हो जाएं तो उससे कोई अंतर नहीं पड़ता था। इसके विपरीत, लोक कल्याणकारी राज्य का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने का अधिकार है। मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति न्याय का ही प्रतिरूप है।

न्याय का साम्यवादी दृष्टिकोण उपर्युक्त दृष्टिकोण से एक कदम आगे है। मार्क्स ने यह घोषणा की थी कि "हर किसी से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाए और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार भुगतान किया जाए।" इसका यह अर्थ है कि सामाजिक दायित्व लोगों की क्षमताओं के अनुरूप वितरित किया जाए और लाभ आवश्यकताओं के अनुसार। व्यक्ति के गुणों का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टिकोण की मूल मान्यता यह है कि हम सभी सामान्य जनकल्याण की इच्छा से स्वत: प्रेरित होकर कार्य करेंगे, उसके बदले में समाज हमें जो कुछ भी देगा उसी से हम संतुष्ट हो जाएंगे। न्याय का साम्यवादी दृष्टिकोण यह अपेक्षा करता है कि हमें सामान्य जनकल्याण की दिशा में सचेतन रूप से योगदान देना चाहिए न कि निजी कल्याण के लिए और इसके बदले में समाज जो कुछ लाभ दे उससे हमें संतुष्ट हो जाना चाहिए। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस दृष्टिकोण की भी अपनी समस्याएं हैं। हम सभी में कुछ न कुछ स्वार्थ तो रहता ही है और यह दृष्टिकोण उसकी अनदेखी करता है।

वितरणकारी न्याय से संबंधित लोककल्याणकारी विचार वस्तुत: समाजवाद व उदारवाद के समायोजन से प्रतिपादित किया गया है। इस विचार की यह मान्यता है कि सब लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है, परंतु जैसे ही ये आवश्यकताएं पूरी हों, व्यक्तियों को समाज से अधिक लाभ पाने की प्रतिस्पर्धा के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, परंतु मौलिक आवश्यकताओं के निर्माणकारी तत्त्वों पर मतभेद हो सकता है क्योंकि बुनियादी आवश्यकताओं की धारणा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और एक देश से दूसरे देश के संदर्भ में सदैव बदलती रहती हैं। अमेरिका में रेफ्रिजरेटर एक बुनियादी जरूरत हो सकती है जबकि भारत में जहां करोड़ों लोग घोर गरीबी के शिकार हैं, उसे एक विलासिता की वस्तु माना जा सकता है। इन अंतरों के बावजूद इस बात पर सब एकमत है कि कुछ लोगों की गैरजरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति होने से पहले सब लोगों की मौलिक आवश्यकताएं पूरी करना अनिवार्य है। हमारे देश में सरकारी अस्पतालों से लोग मुफ्त इलाज करा सकते हैं, लेकिन यदि उन्हें अपने इलाज के लिए निजी देखभाल और अधिक सुविधा की आवश्यकता हो तो उसके लिए उन्हें अपनी जेब से पैसा खर्च करना होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बीमारी से सुरक्षा एक मौलिक अनिवार्यता है, परंतु किसी प्राइवेट नर्सिंग होम की अतिरिक्त सुख-सुविधाएं मौलिक नहीं मानी जा सकती।

इस अर्थ में सामाजिक न्याय महत्वपूर्ण हो जाता है। प्लेटो व अरस्तू संभवत: सही थे जब उन्होंने आवश्यकताओं, योग्यताओं व क्षमताओं के अनुरूप वितरण की बात की थी। वस्तुत: न्याय के विभिन्न पक्ष विद्यमान हैं। उसके प्रत्येक पक्ष का अपना ही एक तर्क है। मैत्री के क्षेत्र में न्याय की जो अवधारणा लागू होती है, वह राज्य के क्षेत्र में न्याय से भिन्न है। हम अपनी पसंद से अपने मित्र बनाते हैं और प्राय: उनके लिए पक्षपात भी करते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं है। मित्रता का अर्थ भी यही है। परंतु राज्य के मामले में हम पक्षपाती नहीं हो सकते। निष्पक्षतापूर्वक व्यवहार करना कानून के समक्ष समानता की धारणा में ही अंतर्निहित है।

भारत में सामाजिक न्याय

1947 में स्वतंत्रता के समय भारत विश्व के सर्वाधिक गरीब देशों में से एक था। यह गरीबी मुख्यत: ब्रिटिश राज्य की आर्थिक जड़ता का परिणाम थी, परंतु इसका एक अन्य उल्लेखनीय कारण था जाति, वर्ग तथा धर्म के आधार पर पनपे विषमता के अनेक सामाजिक प्रतिमानों का उदय। इस कारण से हमने प्रारंभ से ही सामाजिक न्याय का लक्ष्य स्वीकार किया था।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना उद्घोषित करती है कि लोकतांत्रिक भारतीय गणतंत्र अपने नागरिकों के

लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्राप्ति के लिए वचनबद्ध है। राज्य के द्वारा बच्चों को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। स्वतंत्रता के पश्चात से ही गरीबी की समस्या से जूझने के लिए अनेक कार्यक्रम भी शुरू किए गए हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र सरकार ने न्यूनतम ग्रामीण मजदूरी के आधार पर रोजगार की गारंटी संबंधी कानून पारित किया। इसी प्रकार, राजस्थान में 'अंत्योदय योजना' निर्धनतम लोगों के उत्थान से प्रेरित थी। इस योजना का उद्देश्य आय अर्जित करने के साधन प्रदान करना था। भारत में अनेक ऐसे कार्यक्रम भी शुरू किए गए जिन्होंने 2 हेक्टेयर से कम की जमीन वाले किसानों को विशेष ऋण देकर कृषि कार्य में सहायता प्रदान की जैसे कि 'किसान विकास एजेंसी कार्यक्रम'। पंचवर्षीय योजनाओं ने विशेष कर पिछड़े क्षेत्रों तथा पिछड़े लोगों के लिए न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के अनेक कार्यक्रम लागू किए हैं। राज्य ने स्वास्थ्य, सफाई, आवास तथा शिक्षा को सुधारने की दिशा में भी अनेक कदम उठाए हैं। उसका यह प्रयास रहा है कि सभी मजदूरों को आजीविका के लिए समुचित मजदूरी मिले, कार्य की अच्छी परिस्थितियां मिले तथा जीवनयापन का समुचित स्तर उपलब्ध हो। इनके अतिरिक्त 'भूमि सुधार कार्यक्रम' भी क्रियान्वित हो चुके हैं और एकाधिकार वृद्धि को कम करने के प्रयास भी हो चुके हैं।

अनुसूचित जातियों व जनजातियों की आर्थिक स्थिति और सामाजिक स्तर सुधारने की दिशा में भी राज्य ने अनेक कदम उठाए हैं। नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। राज्य ने स्कूलों, कॉलेजों व व्यवसायों में प्राथमिकता देकर उन्हें सकारात्मक रूप से संरक्षण दिया है। पिछड़े वर्गों के लिए विविध सेवाओं में अनेक पद भी आरक्षित किए गए हैं। मंडल अयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान हेतु नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने का विशेष प्रावधान किया है। 'जनजागरण कार्यक्रम' के अंतर्गत सरकार ने सामाजिक जागरुकता के माध्यम से महिलाओं की स्थिति सुधारने हेतु कार्यक्रम लागू किए हैं।

इन सब प्रयासों के बावजूद भारत आज भी दुनिया के सबसे निर्धन देशों में से एक है। भारत में अमीर और गरीब अथवा जाति, वर्ग, संपत्ति व शक्ति से संबंधित घोर विषमताएं व्याप्त हैं। यहां कानूनी प्रक्रिया भी अत्यधिक खर्चीली है। जनकल्याण-कार्यक्रमों के लिए हमारे बजट में रखा गया भाग अपर्याप्त है। प्रभावशाली सामाजिक न्याय सुलभ कराने के लिए यह आवश्यक है कि हम तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में कार्य करें ताकि कोई वित्तीय प्रतिबंध न रहे। हमें संपदा के उचित वितरण द्वारा सभी प्रकार की विषमताओं को दूर करते हुए समाज में व्याप्त असमानताओं व भेदभावों को कम करने का समन्वित प्रयास करना होगा।

अभ्यास

1. 'न्याय' शब्द की व्याख्या कीजिए।
2. कानूनी व नैतिक न्याय में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. इतिहास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में न्याय की दो मुख्य अवधारणाओं का वर्णन कीजिए।
4. 'संरक्षणकारी विभेद' क्या है? व्याख्या कीजिए।
5. भारत के नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु कौन-से कदम उठाए गए हैं ?

मानव अधिकार

अधिकार अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य शर्तें हैं। वे लोगों के संपूर्ण विकास एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करते हैं। हैराल्ड लास्की के अनुसार, ''अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां होती हैं, जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता है।'' भूत काल में सभी समाजों एवं संस्कृतियों ने अधिकारों एवं सिद्धांतों की कुछ अवधारणाएं विकसित की हैं जिनका सम्मान होना चाहिए। इन अधिकारों और सिद्धांतों में कुछ को सर्वव्यापी प्रकृति का माना जाता है। इन अधिकारों की मान्यता हेतु संघर्ष, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दमन के विरुद्ध संघर्ष तथा अन्याय और असमानता के विरुद्ध संघर्ष सभी मानव समाजों के इतिहास का अभिन्न अंग रहे हैं। मानव जाति का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अधिकारों की जिस अवधारणा का उपयोग करने करने का अधिकार प्राप्त है, वह इतिहास के इन्हीं संघर्षों के काल में विकसित हुई है।

मानव अधिकारों की अवधारणा की उत्पत्ति 'पुनर्जागरण' के काल में देखी जा सकती है और कालांतर में ज्ञानोदय से भी इसकी उत्पत्ति का संबंध रहा है। इन कालों में मानववाद (इसके विषय में आप विस्तारपूर्वक अगले अध्याय में पढ़ेंगें) महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। मानववाद व्यक्ति की अनुशंसा संबंधित मत को लेकर चलता है तथा यह व्यक्ति की वांछनीय महत्ता एवं गरिमा पर बल देता है साथ ही मानववाद व्यक्ति की असीमित सृजनात्मक क्षमता में विश्वास रखता है तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं अपृथकनीय अधिकारों की घोषणा करता है। विश्व के क्रांतिकारी आंदोलनों को प्रेरणा देने वाली दो महत्त्वपूर्ण घोषणाएं हैं : 'स्वतंत्रता की अमरीकी घोषणा' एवं 'व्यक्ति तथा नागरिकों के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा'। इन आंदोलनों का मुख्य आग्रह स्वेच्छाचारी शासनों का अंत, लोकतांत्रिक राजनीति की स्थापना एवं व्यक्ति की स्वतंत्रताओं के संरक्षण पर रहा है। 19वीं सदी में विकसित समाजवादी आंदोलन ने मानव अधिकार की अवधारणा में एक नवीन तत्त्व जोड़ा। इसने वर्ग शासन के उन्मूलन एवं सामाजिक तथा आर्थिक समानता की स्थापना पर बल दिया।

मानव अधिकारों की समसामयिक अवधारणा एवं उनकी सर्वव्यापी प्रकृति एवं स्वीकृति भूतकालीन समृद्ध धरोहर पर आधारित रही है एवं इस अवधारणा को 20वीं शताब्दी के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। लगभग आधी 20वीं शताब्दी के इतिहास को विश्व के अधिकांश भाग में उपनिवेशी शासन के प्रचलन के रूप में चित्रित किया जाता है। इस काल में कई देशों में सर्वाधिकारवादी सरकारों का उद्भव हुआ तथा कुछ देशों में फासीवादी, बर्बर तथा आक्रामक शासन प्राणालियों की स्थापना हुई। उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के उद्भव के

अतिरिक्त विभिन्न देशों में लोकतांत्रिक एवं सामाजिक प्रगति के आंदोलन ने संपूर्ण विश्व में 'मानव अधिकारों' के सिद्धांत की लोकप्रियता के लिए एक स्वरूप प्रदान किया है।

यह काल मानव इतिहास के सबसे विध्वंसक युद्धों का भी साक्षी रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम वर्षों में मानव अधिकारों ने उचित परिप्रेक्ष्य में अवधारणात्मकता एवं सुस्पष्टता का स्वरूप ग्रहण किया। नई अवधारणा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी सर्वव्यापकता थी, जिसकी अभिव्यक्ति फासीवाद एवं सैनिकवाद के विरुद्ध एकत्र देशों द्वारा घोषित लक्ष्यों की विभिन्न घोषणाओं में की गई है। यह उचित होगा कि हम मानव अधिकारों की अवधारणा का अर्थ जानने का प्रयास करें।

मानव अधिकार का अर्थ

राजनीति विज्ञान की अन्य अवधारणाओं की भांति 'मानव अधिकार' शब्द को भी विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया एवं समझा गया है, परंतु सामान्य एवं अंतिम विश्लेषण में, मानव अधिकार मूलत: मानव अस्तित्व एवं कल्याण, मानव गरिमा एवं मानवता के सम्मान संबंधी विषयों के चारों ओर घूमते हैं। मानव अधिकार वे न्यूनतम अधिकार हैं, जिनका उपभोग प्रत्येक व्यक्ति को अन्य किसी भी धारणा की अपेक्षा मानव समाज के एक सदस्य के रूप में करना चाहिए। अवधारणात्मक दृष्टि से 'मानव अधिकार' के दो अर्थ होते है। प्रथम, एक व्यक्ति को अंतर्निहित एवं अहरणीय अधिकार इसलिए प्राप्त हैं क्योंकि वह एक मानव प्राणी है। ये नैतिक अधिकार होते है जो कि प्रत्येक मानव की मानवीयता से उद्भव होते हैं तथा इनका लक्ष्य व्यक्ति की गरिमा को बनाये रखना होता है। मानव अधिकारों का द्वितीय अर्थ कानूनी अधिकारों से संबद्ध है। कानूनी अधिकार राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही समाजों की कानून निर्मात्री प्रक्रियाओं के अनुरूप स्थापित किए जाते हैं। आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में, स्वतंत्रता, समानता एवं व्यक्ति की गरिमा से जुड़े नैतिक एवं कानूनी, दोनों ही रूप मानव अधिकारों के सारभाग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मानव अधिकार, लगभग सभी समाजों में बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए समान रूप से प्रसारित किए गए है। मानव जाति की समानता के सिद्धांत को प्रत्येक संस्कृति, सभ्यता, धर्म एवं दार्शनिक परंपरा में देखा जा सकता है। फिर भी, मानव गरिमा के अतिक्रमण एवं विभिन्न आधारों पर जनता के अधिकारों के भेदभाव के मध्य पक्षपात के लिए राज्यों एवं समाजों द्वारा सदैव कुछ तर्क दिए जाते रहे हैं। प्रकृति से प्राप्त अधिकारों एवं राज्य द्वारा इनकी अस्वीकृति के मध्य संघर्ष ने अधिकारों के कानूनी सिद्धांत को विकसित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि संरक्षण की दृष्टि से राज्य द्वारा अधिकारों को स्वीकृति मिलनी चाहिए एवं संविधान द्वारा यथासंभव गारंटी भी दी जानी चाहिए। ये चिंता का विषय है कि कानूनी अधिकार होने के बावजूद कई शासन प्राणालियों ने घोषित समानता एवं गरिमायुक्त मानव जीवन को अस्वीकार करके नागरिकों का दमन एवं दबाव जारी रखा है। अत: इस मान्यता को बढ़ावा मिला है कि नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण केवल सरकारों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता है। यह अनुभव किया गया कि इन अधिकारों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय गारंटी की आवश्यकता है। मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीयकरण के लिए मुख्य दबाव को द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत गति मिली। युद्ध काल एवं उससे पहले सर्वाधिकारवादी शासन प्राणलियों ने अपने भूभागों एवं अधीनस्थ भूभागों में मानव अधिकारों का व्यापक रूप से उल्लंघन किया। ये सर्वाधिकारवादी शासन प्राणालियां जनता के पूरे के पूरे समूहों को

उनकी प्रजाति, धर्म एवं राष्ट्रीयता के कारण समाप्त करने के लिए उत्तरदायी थीं। युद्ध के अनुभव इस व्यापक मान्यता के परिणाम के रूप में आए कि अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं विकास के लिए मानव अधिकारों को प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण देना उस समय की एक आवश्यक मांग थी। तदुपरांत यह धारणा संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रतिबिंबित हुई एवं सुदृढ बनी।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

संयुक्त राष्ट्र चार्टर आधारभूत मानव अधिकारों, मानव की गरिमा एवं महत्त्व, पुरुषों एवं महिलाओं तथा छोटे और बड़े राष्ट्रों को समान अधिकार देने में विश्वास व्यक्त करता है। चार्टर में मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को बार-बार दोहराया गया है। चार्टर की धारा 1 में कहा गया है कि प्रजाति, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर किसी भी भेदभाव के बिना, सभी के लिए मौलिक स्वतंत्रताओं एवं मानव अधिकारों के सम्मान को विकसित करने एवं बढ़ावा देने में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, संयुक्त राष्ट्र का एक लक्ष्य है।

मानव अधिकारों की विषयवस्तु को परिभाषित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने 1945 में स्वयं संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार आयोग (United Nations Commission on Human Rights) की स्थापना की थी। इसका मुख्य कार्य मानव अधिकारों का एक अंतर्राष्ट्रीय विधेयक तैयार करना एवं चार्टर में उल्लिखित अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को परिभाषित करना था। आयोग ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा कर दी। 10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने सभी लोगों एवं राष्ट्रों के लिए उपलब्धियों के समान स्तरों के रूप में मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को सर्वसम्मति से अपनाया। इसी कारण 10 दिसंबर 'मानव अधिकार दिवस' के रूप में मनाया जाता है। सार्वभौमिक घोषणा की धारा 1 में मानव अधिकारों के दर्शन का बोध होता है। इसमें कहा गया है कि "सभी मानव जन्म से ही स्वतंत्र होते है एवं गरिमा तथा अधिकारों में समान होते हैं। वे विवेक एवं चेतना से संचालित होते है तथा उन्हें एक-दूसरे के प्रति बंधुत्व की भावना से कार्य करना चाहिए।'' अत: मूल धारा मान्यताओं को इस रूप में परिभाषित करती है :

- स्वतंत्रता एवं समानता का अधिकार मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है तथा इससे उसको पृथक नहीं किया जा सकता, और
- विवेकशील एवं नैतिक प्राणी होने के नाते मानव, पृथ्वी के अन्य प्राणियों से भिन्न है। अत: उसे कुछ अधिकार एवं स्वतंत्रताएं मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अन्य प्राणी नहीं करते।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में एक प्रस्तावना एवं 30 धाराएं हैं। ये कुछ अधिकारों को परिभाषित करती हैं जो सभी व्यक्तियों को प्रजाति, धर्म, राष्ट्र, लिंग एवं रंग के भेदभाव के बिना मिलने चाहिए।

इन मानव अधिकारों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

प्रथम श्रेणी में वे अधिकार हैं, जिनका संबंध मुख्यत: व्यक्ति के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से होता है। इनमें जीवन, स्वतंत्रता, व्यक्ति की सुरक्षा, उत्पीड़न एवं दासता से मुक्ति तथा राजनीतिक सहभागिता के अधिकार सम्मिलित हैं। संपत्ति तथा विवाह के अधिकार और मत, अभिव्यक्ति चिंतन, चेतना तथा धर्म की मूल स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त संघ एवं सभा की स्वतंत्रता संबंधी अधिकार भी प्रथम श्रेणी के मूल अधिकारों के ही अभिन्न अंग हैं।

द्वितीय श्रेणी के अधिकार वे हैं, जिन्हें 'सुरक्षा केंद्रित अधिकार' कह सकते हैं। ये अधिकार सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। ये

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकार प्रकृति में अधिक सकारात्मक होते हैं। अत: वे राज्य का यह दायित्व तय करते हैं कि वह उन अधिकारों की प्राप्ति को सुनिश्चित करें। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में उन सिद्धांतों पर सहमति दिखाई देती है जो प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के अधिकारों के मूल आधार हैं।

तृतीय श्रेणी के मानव अधिकार अपेक्षाकृत नवोदित अधिकार हैं। वे हाल ही के वर्षों में विभिन्न नए बिंदुओं पर अंतर्राष्ट्रीय सहमतियों के प्रति प्रतिक्रियाओं के रूप में उदय हुए हैं। इनमें पर्यावरणीय, सांस्कृतिक एवं विकासात्मक अधिकार सम्मिलित हैं। इनका संबंध व्यक्तियों के अधिकारों की अपेक्षा समूह एवं जनता के अधिकारों से अधिक होता है। इन अधिकारों में आत्मनिर्णय का अधिकार एवं विकास का अधिकार भी सम्मिलित है। इन अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय सहमति उत्पन्न करने में विकासशील देशों ने अग्रणीय भूमिका निभाई है।

'सर्वव्यापी घोषणा' की स्वीकृति के समय से ही इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद रहा है कि कौन-से अधिकार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कौन-से कम। कुछ राज्यों के प्रतिनिधि इस बात पर अधिक बल देते रहे हैं कि आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अपेक्षा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। विकास के अधिकार को स्वीकृति देने के बारे में उनके गंभीर पूर्वाग्रह रहे हैं। जिन्हें यदि उसे प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाए तो वे विश्व में आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के प्रचलित प्रतिमानों को प्रभावित करेगें। कुछ अन्य देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकारों एवं विकास के अधिकार के महत्त्व पर बल देते हैं। सिद्धांत:, इन मतभेदों को तभी दूर किया माना जा सकता है, जब सभी मानव अधिकारों को अविभाज्य मान लिया जाए। 171 देशों के प्रतिनिधियों एवं सैकड़ों गैर-सरकारी संगठनों की सहभागिता वाले 'वियना उद्घोषणा' के उपरांत जारी घोषणा में स्पष्ट कहा गया है कि *सभी मानव अधिकार सार्वभौम, अविभाज्य, अंतरनिर्भर एवं अंतरसंबंधित होते हैं।* साथ ही यह भी कहा गया है कि व्यक्तिगत अधिकारों-नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राज्यों के अंतर्गत सामूहिक अधिकारों एवं राज्यों के समुदायों के मध्य अधिकारों का लोकतंत्र ही एकमात्र संरक्षक है।

चार्टर और 'सार्वभौमिक घोषणा' उन लाखों लोगों के लिए प्रेरणा के स्रोत थे जो विशेषतया दलित थे एवं उपनिवेशी शासन के अंतर्गत रहते थे, लेकिन घोषणा कोई कानूनी प्रतिबंधात्मक दस्तावेज नहीं थी। मानव अधिकारों को कानूनी स्वीकृति प्रदान करने के लिए 16 दिसंबर 1966 को महासभा ने दो प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार किया। वे थे : आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र एवं नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र। ये प्रतिज्ञापत्र कानूनी दृष्टि से प्रतिबंधात्मक संधियां थी। इसकी सदस्यता ऐच्छिक थी। कोई भी राज्य इनका सदस्य बन सकता था। एक बार इन प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार करने के सहमति देने के उपरांत इसकी धाराओं के क्रियान्वयन के लिए प्रक्रियाओं को स्वीकार करना होगा तथा प्रतिज्ञापत्रों के प्रावधानों की अनुपालन रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होगी। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा तथा इन दो प्रतिज्ञाप्रत्रों के अतिरिक्त भी महासभा द्वारा स्वीकृत अनेक घोषणाएं, अनुशंसाएं एवं समझौते भी हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि घोषणा एवं अनुशंसाएं प्राय: संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों पर लागू होती हैं, परंतु उनकी ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं होती है जैसे कि समझौतों (Conventions) की, जो कि एक बार सदस्य बनने के उपरांत राज्यों पर प्रतिबंधात्मक रूप से लागू होते हैं।

घोषणापत्र का महत्त्व यह है कि यह मानव परिवार के सभी सदस्यों की सामान्य समझ का उल्लेख करता है एवं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के लिए दायित्वों का निर्धारण करता है। यह मानव अधिकारों को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की व्यवस्था में स्थान प्रदान करता है। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय सीमाएं मानव अधिकारों पर कोई नियंत्रण नहीं लगाती हैं। मानव अधिकार, पराराष्ट्रवादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय सहयोग राज्यों पर वह दायित्व लागू करता है, जिसकी सहमति उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के चार्टर एवं मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के आधार पर व्यक्त की है। इस संदर्भ में, आज के विश्व में मानव अधिकार एक महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय विषय बन गया है। उनका उल्लंघन केवल राज्य का आंतरिक विषय ही नहीं, अपितु यह समस्त अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का विषय है। एक मत यह भी है कि बड़ी शक्तियां, मानव अधिकारों के संरक्षण के नाम पर अन्य देशों के मामलों में हस्तक्षेप करके इस अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की अवधारणा का दुरुपयोग कर रही हैं। जबकि वे ऐसा करके मूलत: अपने स्वयं के निहित राष्ट्रीय स्वार्थों की ही पूर्ति करते हैं। अत:, मानव अधिकार का विषय एक गंभीर वाद-विवाद का विषय बन गया है।

बहुत सारे देश मानव अधिकारों के प्रतिज्ञापत्रों एवं समझौतों पर हस्ताक्षरकर्ता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे इनको क्रियान्वित करने के प्रति वचनबद्ध हैं। अत: यह सरकारों का दायित्व है कि वे इन अधिकारों को संरक्षण एवं बढ़ावा दें। मानव अधिकार अंतर्राष्ट्रीय घोषणाओं एवं प्रतिज्ञापत्रों के द्वारा तय किए गए हैं या देश के कानून द्वारा निर्धारित किए गए हैं, इस अंतर को हमें सदैव याद रखना चाहिए। राज्य के कानूनों को न्यायालयों के हस्तक्षेप द्वारा लागू किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के लागू होने के पश्चात् विगत आधी शताब्दी में मानव अधिकारों का क्रियान्वयन का इतिहास निराशाजनक ही रहा है। हालांकि मानव अधिकारों को यथार्थ रूप देने की इस समझ को तैयार करने की आवश्यकता वास्तव में इससे पहले कभी इतनी अधिक नहीं थी।

भारत सहित बहुत से महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं ने अपने नागरिकों के लिए मानव अधिकारों की महत्ता को अनुभव किया है एवं उन्हें विभिन्न रूपों में जैसे घोषणाओं और यहां तक कि अपने संविधानों में भी किसी न किसी रूप में सम्मिलित किया है।

भारत ने इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने मानव समानता एवं गरिमा के सिद्धांत का समर्थन किया और नागरिकों के मौलिक अधिकारों को (संविधान के तीसरे भाग में) न्यायसंगत बनाया है।

अभ्यास

1. 'मानव अधिकारों' की परिभाषा दीजिए।
2. 'मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' के अर्थ की व्याख्या कीजिए।
3. मानव अधिकारों के महत्त्व का वर्णन कीजिए।
4. मानव अधिकारों की घोषणा के लिए कौन-सी परिस्थितियां उत्तरदायी थीं ?
5. मानव अधिकार दिवस कब एवं क्यों मनाया जाता है ?

धर्म

धर्म मूल रूप से एक भारतीय अवधारणा है। इसका आधार प्राचीन भारतीय दर्शन और विचार में सुदूर तक पाया जाता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसके महत्त्व को पहचानते हुए इस बात पर बल दिया कि मानव जीवन को धर्म की पूर्वनिर्धारित धारणाओं के अनुरूप नियंत्रित किया जाए।

धर्म क्या है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि धर्म क्या है और इसके मूलभूत तत्त्व कौन-से हैं ? धर्म शब्द संस्कृत के 'धर' शब्द से लिया गया है। जिसका तात्पर्य है अपनाना, सहायता करना या अनुरक्षण करना। साधारण भाषा में इसका अर्थ 'सदाचार के सिद्धांतों' से है। यह मानव प्राणियों की नैतिक संबंधता को इंगित करता है। सामान्य बोलचाल में इसको प्रायः पंथ या आध्यात्मिकता से जोड़ा जाता है, परंतु धर्म केवल आध्यात्मिकता ही नहीं है। जीवन में कर्तव्यों के जिस मार्ग का अनुसरण करना हमने तय किया है, उसका पालन ही धर्म है। इसको किसी विशिष्ट पंथ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। धर्मशास्त्रों ने वैदिक परंपरा के आधार पर धर्म की परिभाषा दी है। इस परंपरा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के धर्म का निर्धारण, वर्ण एवं आश्रमों की सामाजिक व्यवस्था में उसके स्थान के अनुसार तय होता है। *मीमांसा* के अनुसार धर्म को आदेशों एवं प्रतिबंधों के एक समुच्चय के रूप में स्वीकार किया जाता है। बौद्ध साहित्य में धर्म, चेतना की मुख्य विशेषता के रूप में दर्शाया जाता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म की अवधारणा

धर्म की अवधारणा का व्यापक विवेचन महाभारत के 'शांतिपर्व' एवं 'अनुशासन पर्व' में किया गया है। शांति प्रतिपादित मत सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोणों का सयुंक्तिकरण है। धर्म, मूलतः नैतिक कार्यों का अनुमोदन करता है। यह अवधारणा इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति एवं स्वभाव होता है। व्यक्ति के समाज में स्थान के अनुरूप, धर्म उसकी क्षमता की अनुभूति होता है। व्यक्ति को अपने उद्देश्यों एवं इरादों का उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए। यह माना जाता है कि व्यक्ति को उसके कार्यों के परिणाम के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, परंतु व्यक्ति के पास आत्मा है और उसमें अपने वातावरण को समझने तथा इसे अपने आप से जोड़ने की क्षमता है। इसलिए उसके उद्देश्य एवं इरादे भी नैतिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण होते है।

गीता में जब अर्जुन को उसके धर्म के अनुसार कार्य करने के विषय में उपदेश दिया जा रहा था, तब कृष्ण कहते हैं : हे अर्जुन ! तुम अपनी प्रकृति एवं स्वभाव जनित आवेगों एवं भावनाओं पर विजय प्राप्त करो तथा धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का

पालन करो। व्यक्ति भाग्य की कार्यप्रणाली के विषय में अनभिज्ञ है। वह यह भी सुनिश्चित नहीं कर सकता कि उसके कार्यों के परिणाम सदैव अच्छे ही होगें, परंतु जहां तक उसके उद्देश्यों एवं विवेकशीलता का प्रश्न है, वह पूर्णतः स्वतंत्र है। यह स्वतंत्रता ही उस पर समाज के लिए कार्य करने का दायित्व डालती है। ग्रंथों ने धर्म की अवधारणा का प्रमुख अर्थ दूसरों के लिए कार्य करने के रूप में किया है। इस अवधारणा की पूर्णता कृष्ण के 'निष्काम कर्म' के विचार में निहित है।

कार्यविधि के सही मार्ग का निर्णय हम कैसे तय करें? यह सुझाव दिया जाता है कि सर्वप्रथम हमें वेद, स्मृति एवं नैतिक जीवन के अन्य परंपरागत स्रोतों के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। धर्म के अर्थ का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। *मनु संहिता* में धर्म की विभिन्न विशेषताओं के बारे में विवेचना की गई है। यहां धर्म शब्द को न केवल वस्तुओं के गुणों एवं स्वाभाविक विशेषताओं से संबंधित माना गया है, अपितु इसका संबंध उच्च सद्गुणों एवं आध्यात्मिक प्रयासों से भी जोड़ा गया है। इसमें यह भी चर्चा की जाती है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। द्वितीय, धर्म न केवल नागरिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों से संबंधित है, वरन् इसमें व्यक्तियों के सामान्य व्यवहार, जीवन की सुरक्षा एवं व्यक्तिगत रुचियों, जैसे स्वच्छता, सफाई का प्रबंध, नागरिक चेतना, सद्व्यवहार, शिष्टता, भद्रता तथा सामान्य अर्थ के विषयों की चर्चा भी सन्निहित है। तृतीय, समाज के विभिन्न वर्गों के लिए तथा जीवन एवं प्रतिष्ठा के विभिन्न स्तरों पर धर्म को भिन्न-भिन्न तरीकों से निरूपित किया जाता है अथवा समझा जाता है। यह पुरुष एवं महिलाओं के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह वास्तव में विभिन्न, किंतु अंतरसंबंधित कर्तव्यों का जाल होता है। प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति को इसे स्वयं परिभाषित करना होगा। चतुर्थ, धर्म के क्षेत्रों एवं परिचालनों का उल्लेख करते समय, जैसा कि वेद एवं स्मृतियों में चतुर्वर्ण का विधान प्रस्तुत किया गया है, विधि प्रदाता मनु एवं हिंदू दर्शन के अन्य प्रतिपादकों ने स्वीकृत व्यवहार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और समाज के समझदार व्यक्तियों ने इसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी रखा है। प्रशासक को यह देखना होगा कि स्थानीय रीति-रिवाजों को उपयुक्त संरक्षण मिलता रहे तथा वे सम्मानपूर्वक बने रहें। पंचम, हमें केवल वर्ग या प्रतिष्ठा या स्थिति के संदर्भ में ही धर्म की बात नहीं करनी चाहिए, वरन् हमें समय एवं युग के संदर्भ में भी इसे समझना एवं क्रियान्वित करना चाहिए। अंतिम, धर्म के घेरे में जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्यों को सम्मिलित करना भी इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रत्येक प्राणी का आध्यात्मिक प्रारंभ एवं अंत होता है। धर्म जीवन के चार लक्ष्यों से संबंधित है। ये है: धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म नियंत्रणकर्ता है; अर्थ एवं काम इसके अधीनस्थ है किंतु फिर भी इसे सुख या समृद्धता से पृथक नहीं किया जा सकता। धर्म सर्वोच्च है, क्योंकि यह सभी के हितार्थ हमारी सभी गतिविधियों को नियंत्रित करता है। यह सकारात्मक अवधारणा है, सर्वोच्च संभव आदर्श अर्थात् स्वानुभूति एवं आत्ममुक्ति का निरूपण है।

जब कभी भी विभिन्न सिद्धांतों में विरोधाभास होता है तो मूल सिद्धांत है सभी का कल्याण। लघु वर्ग के कल्याण की अपेक्षा बृहत् वर्ग के कल्याण को प्राथमिकता अवश्यमेव दी जानी चाहिए। व्यक्ति की अच्छाई की अपेक्षा समाज की अच्छाई को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि व्यक्ति को गांव के लिए एवं गांव को राज्य हेतु न्यौछावर किया जा सकता है तथा संपूर्ण विश्व को आत्मा के लिए छोड़ा जा सकता है। अंतिम

विश्लेषण में दो सद्गुणों - सत्य एवं अहिंसा के अलावा अन्य सभी सद्गुणों का व्यवहार उन जटिल परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें व्यक्ति की प्रकृति एवं स्वभाव के साथ ही समाज में उसके द्वारा प्राप्त स्तर भी सम्मिलित होता है। वास्तव में, नैतिक जीवन एक सीधी लकड़ी की भांति नहीं बना है। कृष्ण ने संदेह की स्थिति में दो सामान्य सिद्धांतों को प्रतिपादित किया है। प्रथम, व्यक्ति को उन महान व्यक्तियों के उदाहरणों को अपनाने का प्रयास करना चाहिए, जो उन्होंने ऐसी स्थितियों में अपनाए थे। द्वितीय, व्यक्ति को समाज के कल्याण के लिए अपने निजी हितों को गौण बना देना चाहिए। मनु ने धर्म की अवधारणा का निष्कर्ष एक शब्द – 'उपकार' में प्रस्तुत किया है।

धर्म, राज्य, कानून और समाज

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि भले ही धर्म की अवधारणा कानून और राज्य से सीधे संबंधित नहीं है परंतु इसका प्रभाव दोनों पर है।

आप पिछली कक्षा में 'पंथनिरपेक्ष राज्य' के विषय में पहले ही पढ़ चुके हैं। 'पंथनिरपेक्ष राज्य' से हमारा अभिप्राय है ऐसा राज्य जिसका अपना कोई पंथ नहीं होता। वह सभी नागरिकों को पंथ, जाति, प्रजाति के आधार पर भेदभाव किए बिना सुरक्षा प्रदान करता है। जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय संविधान भी इस बिंदु पर बल देता है। धार्मिक स्वतंत्रता तथा कानून के समक्ष समानता का अधिकार, संविधान के मौलिक अधिकार वाले भाग में सम्मिलित किए गए हैं।

'पंथनिरपेक्ष राज्य' को बनाए रखने के पीछे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे राज्य की आधारशिला के रूप में एक पंथनिरपेक्ष समाज का होना अति आवश्यक है। इसका यह अर्थ है कि समाज के सदस्य दूसरे पंथ के सदस्यों की भावनाओं को ठेस न पहुंचाए और उनकी भावानाओं का आदर भी करें। पंथनिरपेक्षता एक सकारात्मक धारणा है। भारत में सहनशीलता और अन्य सदस्यों के साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहने की एक लंबी परंपरा है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में धर्म का सही रूप से अंग्रेज़ी के शब्द 'रिलिजन' (Religion) से अनुवाद नहीं किया जा सकता। हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में धर्म एक 'संयुक्त शब्द' है जो चार तत्त्वों से मिलकर बना है। इसका अर्थ है :

- सदाचार,
- कर्तव्य,
- वैधता, और
- उचित दावे।

पाश्चात्य परंपरा में धर्म का सार इस आदेश वाक्य में निहित है ''मेरा कार्यस्थल और मेरा कर्तव्य''। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य-स्थल पर अपने कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करना चाहिए। भारतीय परंपरा के अनुसार ये चार 'वर्णों' के मध्य का दर्शन है। प्लेटो के मतानुसार न्याय, आदर्श राज्य में समाज के तीन वर्गों में 'श्रम का विभाजन' तथा 'कार्यों का विशेषीकरण' है। उसके लिए आदर्श समाज अथवा आदर्श राज्य में समाज के तीनों वर्ग जन्म के आधार पर नहीं बल्कि उनमें निहित गुणों के आधार पर संगठित होंगे। यह तीन गुण हैं – इच्छा, साहस तथा विवेक। जिनमें इच्छा का बाहुल्य है वे सारे समाज के लिए उत्पादन करते हैं ; जिनमें साहस अधिक है वे राज्य अथवा समाज के रक्षक होते हैं तथा जिनमें विवेक की प्रमुखता होती है वे दार्शनिक शासक अथवा दार्शनिक राजा बनते हैं। इस प्रकार न्याय का अर्थ है एक व्यक्ति का अपने वर्ग के अनुसार निष्ठापूर्ण कार्य करना तथा दूसरे के

कार्यों में हस्तक्षेप किए बिना अपने कार्यों में दक्षता प्राप्त करना।

गांधीजी ने धर्म को दयनीय अवस्था वाले लोगों के प्रति करुणा से जोड़ा। (गांधीजी के विचार के बारे में आप विस्तार से अध्याय 16 में पढ़ेगें) वस्तुत: धर्म की संकल्पना अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए एक उदारवादी की दृष्टि में संपत्ति का अधिकार अनिवार्य हो सकता है परंतु एक साम्यवादी का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत हो सकता है। अहिंसा का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान है। कोई भी 'अहिंसा परमोधर्म:' कहावत पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगा सकता। किंतु यथार्थ रूप में 'अधिक उपयुक्त' या 'कम उपयुक्त' दृष्टि से किसी का भी चयन कर सकता है। अत: महर्षि मारकण्डेय ने घोषणा की कि ''सदाचार के मार्ग जटिल, कठिन, विविध एवं अनंत हैं।'' जब जीवन, संपत्ति अथवा नैतिक मूल्यों को किसी प्रकार खतरा हो तो मौलिक परिस्थितियों से हटा जा सकता है। तदापि अधिकांश मामलों में हटने की अनुमति केवल सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से ही है।

इस प्रकार धर्म की संकल्पना बहुत व्यापक ही नहीं अपितु अत्यधिक आदर्शात्मक भी है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इसमें नैतिक व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया गया है। नैतिक संदर्भ में यह राज्यों और व्यक्तियों, दोनों पर ही लागू होता है। जिस तरह व्यक्ति नैतिक नियमों से बंधे हुए हैं, उसी तरह राज्यों को भी नैतिक मूल्यों को स्वीकार करना होगा। कुछ प्राचीन ग्रंथों के अनुसार अगर कोई शासक धर्म की अवहेलना करता है तो वह सदाचारी नहीं है और अवगुणों से भरा है। संक्षेप में 'धर्म' का दर्शन, हमारा ध्यान जीवन की जटिलताओं की ओर आकर्षित करता है और जीवन को जीने-योग्य बनाने में सहायक होता है।

अभ्यास

1. हमारे सामाजिक, राजनीतिक और नागरिक जीवन में धर्म के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
2. प्राचीन भारत में धर्म की अवधारणा की व्याख्या करें।
3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि धर्म की धारणा अस्पष्ट और आदर्शवादी है ? उदाहरण सहित समझाइए।
4. धर्म एक प्रकार के उच्चतम नैतिक, सामाजिक और नागरिक सद्गुणों से युक्त है। समझाइए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखें :
   (क) पंथनिरपेक्षता
   (ख) मेरा कार्यस्थल और मेरा कर्तव्य
   (ग) चतुर्वर्ण

इकाई दो

राज्य और नागरिक

अधिकार तथा कर्तव्य : अर्थ एवं संबंध

अधिकार क्या हैं ?

नागरिकों के अधिकार उनके अच्छे जीवन के लिए आवश्यक हैं। वे उन बाह्य स्थितियों का निर्माण करते हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए अपरिहार्य हैं। राज्य मानव व्यक्तित्व को समृद्ध करने के लिए ही बना है। यह सब कुछ अपने में समाहित करने वाला 'लेवायथन' (Leviathan)नहीं है बल्कि मानव विकास को संभव बनाने वाली एक आवश्यक युक्ति है। कुछ मानकीय दार्शनिकों की यह दृढ़ मान्यता है कि यथार्थ में कोई राज्य कहलाने का तभी अधिकारी है जब वह अपने नागरिकों को कुछ न्यूनतम अधिकार उपलब्ध कराए। वास्तव में, अधिकार कुछ दावों के रूप में प्रकट होते हैं, लेकिन सभी दावों को अधिकार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अधिकार वस्तुत: वे दावे होते हैं जिन्हें समाज मान्यता देता है और जो राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं। ऐसी मान्यता के अभाव में अधिकार केवल खोखले दावे ही सिद्ध होंगे। समाज की प्रकृति सावयविक होती है, अत: किसी व्यक्ति को स्पष्टत: ऐसे कोई अधिकार नहीं मिल सकते जिन्हें समाज स्वीकृत न करता हो। समाज के अभिन्न अंग के रूप में व्यक्ति केवल उसी के माध्यम से अपने अस्तित्व के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। अत: कोई भी स्वार्थपूर्ण दावा अधिकार नहीं हो सकता। अधिकार कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य समाज का हित हो एवं समाज की सामान्य धारणा द्वारा मान्य हो। यदि अधिकार समाज की मान्यता पर निर्भर न हों तो हर कोई अपनी सुविधानुंसार अधिकारों के नाम पर हर प्रकार के दावे प्रस्तुत करने लगेगा। परस्पर विरोधी दावों की स्थिति में उनका सापेक्षिक औचित्य निर्धारित करना कठिन होगा। केवल समाज ही कुछ सीमाओं के भीतर ऐसा कर सकता है। समाज से ऐसा करने के दौरान त्रुटि हो सकती है लेकिन अधिकारों के पारस्परिक विरोध की स्थिति में समाज की व्यापक बुद्धिमत्ता पर भरोसा किया जा सकता है। अत: किसी भी राज्य में अधिकारों की विषय-वस्तु संबंधित समाज में व्याप्त सामान्य मत अथवा सर्वसहमति द्वारा निर्धारित होता है। यह हो सकता है कि हम उन्हें अधिक मानवीय बनाने के क्रम में उनमें समय-समय पर परिवर्तन करें लेकिन अंतत: उनकी प्रकृति व विषय-वस्तु का निर्धारण समाज द्वारा ही किया जाता है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकारों के संदर्भ में सामाजिक मान्यता तथा राज्य द्वारा उन्हें दी जाने वाली मान्यता में पर्याप्त अंतर है। अधिकार सदैव कानून की उपज नहीं होते जैसा कि हाब्स व बेन्थम का विश्वास था। अधिकार, मानव व्यक्तित्व के विकास की अनिवार्य शर्त हैं अतएव वे उन सिद्धांतों का सूत्रपात करते हैं जिनसे स्वयं राज्य-कानून अपना औचित्य प्राप्त करते हैं। किसी भी राज्य के

मूल्यांकन का आधार वास्तव में वे परिस्थितियां है जिन्हें राज्य अपने नागरिकों के वैयक्तिक विकास के लिए सुलभ कराता है। 'अधिकार' उन्हीं परिस्थितियों का दूसरा नाम है। वैधानिक सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य-इच्छा की उत्पत्ति है। जैसाकि लास्की की मान्यता है कि "अधिकारों को राज्य-इच्छा की उत्पत्ति मानने वाला कोई भी कानूनी सिद्धांत, राजनीतिक दर्शन को समृद्ध नहीं कर सकता। ऐसा सिद्धांत तो हमें केवल यही बताता है कि राज्य की प्रकृति क्या है। वह हमें यह नहीं बता सकता कि मान्यताप्राप्त अधिकार अनिवार्य है अथवा नहीं।" अधिकार वास्तव में वे दावे होते हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व के उद्देश्य को प्राप्त ही नहीं कर सकता। राज्य, मानवीय सुख अर्जित करने के लिए बना है, अतएव वह तभी सफल हो सकता है जबकि वह अपने नागरिकों को वह अधिकार दे जिनकी वे अपने विकास के लिए मांग करते हैं।

कभी राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों व समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों से संघर्ष भी हो सकता है। राज्य कुछ विशेषाधिकार सुरक्षित करने की चेष्टा कर सकता है जैसा कि 1789 से पहले फ्रांस के शासन ने किया था और जिसके फलस्वरूप फ्रांसीसी राज्य क्रांति की ज्वाला भड़क उठी थी। ऐसी परिस्थितियों में आदर्श अधिकारों के पक्षधर राज्य के पुराने आधारों को नगण्य करते हुए किसी नई राज्य व्यवस्था के सूत्रपात करने की कोशिश करते हैं। उनके प्रयास का लक्ष्य किसी ऐसी राज्य व्यवस्था की स्थापना है जो सामाजिक इच्छा के अनुरूप व्यक्ति के आदर्श दावों की पोषक हो।

लॉक ने अपने विचारों में प्राकृतिक अधिकारों के उस सिद्धांत का समर्थन किया था जो व्यक्तियों को प्राकृतिक अवस्था में उपलब्ध थे। सभ्य समाज के उदय से पूर्व प्राकृतिक अधिकारों व कर्तव्यों की व्यवस्था थी जो पारस्परिक दावों और दायित्वों पर आधारित थे। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को पारस्परिक दावों और दायित्वों के एक व्यापक जाल के रूप में प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के अधिकार स्थायी व अलोप्य थे। ऐसे अधिकारों में जीने का अधिकार तथा स्वतंत्रता व. संपत्ति विषयक अधिकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। हॉब्स और लॉक दोनों ही कभी स्पष्ट नहीं कर सकें कि 'प्रकृति' क्या है। कभी-कभी तो उनके सिद्धांत में 'प्रकृति' से अभिप्राय उस स्वाभाविक खोज से होता है जो व्यक्ति सुरक्षा व अधिग्रहण के उद्देश्य से करते हैं। यहां तक कि उसमें प्राय: उनकी आक्रामक प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के अंश भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी उनका अभिप्राय विवेकपूर्ण आचरण से भी होता है। वास्तव में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के अनुसार मानवजाति की शैशवास्था में अधिकारों की यह उपभोगकारी कल्पना है। यह इस भ्रांत धारणा पर आधारित है कि समाज से पृथक भी हमारे कोई अधिकार अथवा कर्तव्य हो सकते हैं। बर्क ने इस बात को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हुए कहा था कि हम नागरिक तथा गैर-नागरिक अवस्था के अधिकारों का एक साथ उपभोग नहीं कर सकते। प्राकृतिक अधिकार अमूर्त रूप में जितने ही पूर्ण होंगे, व्यवहार में उनकी स्वीकृति उतनी ही कठिन होगी।

अधिकार वस्तुत: सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। वे समाज से पृथक नहीं हो सकते। यदि वे प्राकृतिक होते भी है तो केवल इस अर्थ में कि वे हमारे वांछित उद्देश्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। वे केवल उसी अर्थ में प्राकृतिक हैं कि उनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। अत: एक ओर तो वे उन दावों के परिचायक हैं जिनके बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर

सकता, और दूसरी ओर वे समाज से मान्यता प्राप्त ऐसी सुविधाएं हैं जिनसे व्यक्ति अपने दावों की पूर्ति कर सकता है। समाज ही हमारे दावों को मान्यता दे सकता है, वही उन्हें औचित्य प्रदान करता है। वैयक्तिक अधिकारों की सार्थकता तथा महत्त्व केवल तभी तक होता है जब तक उनसे व्यक्ति की भलाई के साथ सामाजिक कल्याण भी संभव हो। ये ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने कल्याण की भांति समाज का कल्याण भी कर सकता है। अधिकार हमारी क्षमता की उन स्थितियों के परिचायक हैं जिनके अंतर्गत हम सामाजिक कल्याण में अपनी भागीदारी निभा पाते हैं। कोई समाज केवल तभी विकसित हो सकता है जब उस समाज के सदस्य एक-दूसरे के दावों को इस आधार पर मान्यता दें कि उन दावों से सामाजिक कल्याण चरितार्थ होता है। ऐसी पारस्परिक मान्यता ही *अधिकारों की आधारशिला है।*

इस प्रकार अधिकार सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति के कल्याण की परिस्थितियां हैं। ये सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में व्यक्ति सामाजिक हितों से अपने निजी हितों का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। राज्य तो ऐसी परिस्थितियों को केवल लागू ही करता है। राज्य का यह उद्देश्य है कि वह व्यक्ति के सामान्य सुख की परिस्थितियां पैदा करे। इस कारण यदि राज्य व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक अधिकारों की परिस्थितियों को उपलब्ध करने में विफल होता है तो उसके प्रति हमारी आस्था का दावा समाप्त हो जाता है। निस्संदेह, सामान्य हित का निर्धारण करना कठिन है। व्यवहार में उसका अर्थ अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण या बहुसंख्यक का हितसाधन हो सकता है। इसका उद्देश्य समाज के कल्याण की सरकारी धारणा भी हो सकता है। किस दावे को अधिकार के रूप में स्वीकार किया जाए यह एक व्यावहारिक समस्या है। अधिकार की अंतर्निहित विषय-वस्तु काफी अंशों में किसी समय-विशेष में किसी विशिष्ट समाज के रीतिरिवाजों व लोकाचार पर निर्भर करती है। अधिकारों की कोई भी ऐसी सूची नहीं निर्मित की जा सकती जिसको सार्वभौमिक या सामान्य रूप से सभी परिस्थितियों में लागू किया जा सकता हो। ऐसा कोई भी प्रयास वास्तव में किसी युग-विशेष के मूल्यों को पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के बराबर होगा। अधिकारों के किसी भी ऐसे परिकल्पनात्मक विचार की उस सिद्धांत के संदर्भ में बहुत कम प्रासंगिकता होती है जो सामान्य नियम प्रतिपादित करने को तत्पर होता है। अतीत में आदर्श अधिकारों के सूचीबद्ध करने के सभी प्रयास वस्तुत: उस प्रवृत्ति के शिकार रहे हैं जिसे तकनीकी भाषा में 'अवधारणा का मूर्तिकरण' (reification of conception) कहा जाता है। इस प्रवृत्ति से बाध्य होकर कोई समाज अपने विशिष्ट मूल्य को सामान्य अथवा सार्वभौमिक मूल्य स्तर तक उठाने का प्रयास करता है। अत: इस दिशा में लॉक या थॉमस पेन, दोनों ने ही अपने-अपने संदर्भों में अपनी-अपनी प्राथमिकताओं को पूर्ण सिद्धांत बनाने की चेष्टा की थी। वास्तविकता यह है कि हर युग व हर समाज को सदैव नए सिरे से अपने लिए यह तय करना पड़ता है कि वह किन विशिष्ट अधिकारों को अपनाएंगे ताकि वे अधिकार किसी भी संदेह से मुक्त रह सकें। उदाहरण के लिए लॉक ने संपत्ति के अधिकार को प्राकृतिक माना था। हम अब ऐसा बिल्कुल नहीं मानते क्योंकि आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं।

अब तक की चर्चा से यह स्पष्ट है कि अधिकार अपनी प्रकृति में पूर्ण अथवा निरंकुश नहीं हो सकते। समाज के सदस्य के रूप में व्यक्तियों का कल्याण वास्तव में उनके वैयक्तिक अधिकारों व

सामाजिक हितों के बीच स्थापित किसी सुखद समझौते में ही निहित है। अधिकारों से संबंधित किसी भी सूची को निर्मित करते हुए यह अनिवार्यत: स्वीकार करना चाहिए कि पूर्ण अथवा अनियंत्रित अधिकार नाम की कोई चीज हो ही नहीं सकती। ऐसी किसी भी स्थिति का परिणाम समाज में अराजकता व अव्यवस्था होगा। अधिकारों की किसी भी प्रभावी प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि उन पर सामाजिक नियंत्रण हो। अमेरिका के संविधान में पहले दस संशोधनों द्वारा सम्मिलित किए गए मौलिक अधिकारों पर एक लंबे समय तक कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया, लेकिन कालांतर में इस व्यवस्था की अव्यवहारिकता समझ में आने लगी। वहां यह अनुभव किया जाने लगा कि इस व्यवस्था के होते हुए सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखना कठिन था। समाज में भ्रष्टाचार का उन्मूलन दुरूह-सा हो गया और उन सबसे अपराध-वृत्ति को बढ़ावा मिलने लगा था। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को, जिसे संविधान की व्याख्या का दायित्व प्राप्त है, शीघ्र ही 'निहित शक्ति के सिद्धांत' (Doctrine of Implied Powers) को स्थापित करना पड़ा। इसके अंतर्गत यह स्वीकार किया गया कि राज्य को एक समन्वयकारी अधिकरण के रूप में समान हितों की सुरक्षा के लिए मूल अधिकारों पर उचित प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त है। भारत का संविधान भी मूल अधिकारों पर सीमाएं स्वीकार करता है।

अधिकारों के प्रकार

हमारे अपने युग में नागरिकों के लिए आवश्यक विशिष्ट अधिकारों में पहला अधिकार *व्यक्तिगत स्वतंत्रता* का अधिकार है। यह अधिकार 'कानून के शासन' की धारणा में निहित है। हमारे संविधान की यह मान्यता है कि "कानून द्वारा स्थापित कार्य-विधि के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का हनन नहीं किया जाना चाहिए।" व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि किसी व्यक्ति को कुछ भी करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। कोई अपराधी- जो सदैव समाज विरोधी मनोवेगों से ग्रस्त रहता है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का दावा नहीं कर सकता। वास्तव में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का यह अर्थ है कि हमें किसी सुनिश्चित कानून के उल्लंघन की स्थिति में ही दंड मिले और वह दंड भी निष्पक्ष कानूनी जांच-पड़ताल के बाद उचित कानूनी प्रक्रिया पर आधारित हो।

सभ्य समाजों में निष्पक्ष मुकद्मे के बिना किसी भी व्यक्ति की नजरबंदी वास्तव में व्यक्तियों के अधिकारों का हनन ही कहा जाएगा। हमारे संविधान में उल्लिखित 'निवारक नजरबंदी' ऐसा ही प्रावधान है। हालांकि बहुत गंभीर राष्ट्रीय विपत्तियों अथवा युद्ध की स्थितियों में बात दूसरी हो जाती है। कोई भी राज्य अपनी सुरक्षा को खतरे में डालने की अनुमति किसी भी स्थिति में नहीं दे सकता।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार *समानता का अधिकार* है। समानता का यहां दो अर्थों में उल्लेख किया जा रहा है-

- अवसर की समानता और
- कानून के सम्मुख समानता तथा कानूनों द्वारा समान संरक्षण।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि पूर्ण समानता का अधिकार संभव नहीं है। पूर्ण समानता न केवल अव्यावहारिक है बल्कि वह वांछनीय भी नहीं है। समानता तो केवल आनुपातिक हो सकती है इसका यह अभिप्राय है कि समाज में कुछ लोगों के पास अत्यधिक धन होने से पहले सब लोगों को सम्मानजनक जीवन की न्यूनतम आवश्यक सुख

सुविधाएं प्राप्त होगी। हर राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने समस्त नागरिकों को बिना वर्ग या सामाजिक स्थिति का ख्याल किए ऐसी न्यूनतम सुविधाएं उपलब्ध कराए। सही अर्थों में नागरिक होने की यह पूर्व शर्त है कि हम भुखमरी व बेरोजगारी के भय से मुक्त हों।

कानून के समक्ष समानता का अर्थ है विशेषाधिकार की अनुपस्थिति, व सभी सामाजिक वर्गो पर कानून की समान बाध्यता। देश के कानून तथा न्यायालयों द्वारा शासित प्रक्रिया दुर्बल एवं सबल दोनों ही वर्गो पर समान रूप से प्रभावी होती है। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है समान परिस्थितियों में समान व्यवहार। इसका केवल यही अर्थ है कि समान व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाना चाहिए। किंतु राज्य कुछ वर्गीकरण भी कर सकता है। यहां अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण संबंधी कानून का उदाहरण दिया जा सकता है। यह वर्गीकरण हर हाल में तर्कसंगत होना चाहिए और उसे जनकल्याण के अतिरिक्त अन्य किसी मापदंड से न्यायोचित सिद्ध नही किया जाना चाहिए। यदि सबके कल्याण की प्रेरणा पाते हुए कोई कानून समाज के वर्ग-विशेष से कोई सरोकार रखें तो उक्त कानून समानता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित करता है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार, जो नागरिकों को अनिवार्यत: प्राप्त होना चाहिए वह है, *अभिव्यक्ति व भाषण की स्वतंत्रता का अधिकार*। यह अधिकार व्यक्तियों को अपनी शिकायतों को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करेगा। साथ ही सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर जनमत संगठित करने में सक्षम हो सकेगा। इसके अतिरिक्त शासन भी ऐसी स्वतंत्र अभिव्यक्ति की स्थिति में मस्तिष्क को समझने में सक्षम होगा। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भाषण व अभिव्यक्ति के अधिकार के पक्ष में उत्कृष्ट तर्क प्रस्तुत कर इस बात पर बल दिया था कि संपूर्ण मानव-समुदाय को भी यह अधिकार नहीं है कि वह किसी एक भिन्न मत रखने वाले किसी एक व्यक्ति की भी आवाज़ दबा दे। कौन जानता है कि शायद वही एक व्यक्ति अंततः सही सिद्ध हो और बाकी सब गलत। सुकरात, ईसा मसीह तथा गेलीलियों के उदाहरण हमें सदैव यह याद दिलाते रहेंगे कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति व भाषण की स्वतत्रता पर प्रतिबंध वस्तुत: वैयक्तिक स्वतंत्रता का ही निषेध है। इस निषेध को इस आधार पर न्यायसंगत नहीं ठहाराया जा सकता कि ऐसी अभिव्यक्ति संभवत: ईश-निंदा हो सकती है या समाज के कल्याण के विपरीत हो सकती है।

कुछ विचारकों का मत है कि भाषण व अभिव्यक्ति का अधिकार एक ऐसा अधिकार है जो युद्ध-काल में भी निषिद्ध नहीं होना चाहिए। कोई भी कार्यपालिका जो युद्ध अथवा गंभीर राष्ट्रीय संकट की स्थिति में नागरिकों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को खुलेआम दबाती है वह अधिकतर अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकती है। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व जर्मनी व इटली को ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ा और वे इस प्रक्रिया में नष्ट हो गए, किंतु यह विचारणीय है कि व्यवहार में सरकार इस अधिकार के प्रयोग को किस सीमा तक प्रतिबंधित कर सकती है। कोई भी सरकार अपने नागरिकों के किसी भी भाग को विध्वंसात्मक प्रचार की अनुमति नहीं दे सकती। सरकार किसी को यह भी अनुमति नहीं दे सकती कि वह युद्ध के समय राष्ट्रीय सेनाओं से यह कहे कि वे युद्ध में भाग न लें। यदि वह ऐसा करने दे तो वह सरकार कहलाने योग्य ही नहीं रहेगी। इसी प्रकार कोई भी सरकार गृह-युद्ध या देश के विघटन की किसी वकालत को भी सहन नहीं कर सकती। राज्य का पहला कर्तव्य तो स्वयं अपनी अखंडता अक्षुण्ण

रखना है। यदि स्वयं राज्य का अस्तित्व नहीं रहा तो वह भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को किसी प्रकार जीवित रख सकेगा ? यहां इस बात पर विशेष बल देना प्रासंगिक है कि भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आशय अपमानजनक आरोप लगाना या जनता को अपराध करने के लिए उकसाना नहीं है। यदि इस अधिकार का ऐसा कोई दुरुपयोग किया जाता है तो उससे प्रभावित हर व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह उसके समुचित निराकरण का प्रयत्न करे।

चौथा महत्त्वपूर्ण अधिकार है, *काम का अधिकार* तथा पर्याप्त मजदूरी पाने का अधिकार। नागरिकों को यह अधिकार है कि उन्हें उपयुक्त रोजगार मिले। यह राज्य का दायित्व है कि वह उन्हें ऐसा रोजगार सुलभ कराए। रोजगार के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि उसके नाम पर नागरिक किसी व्यवसाय विशेष का दावा कर सकते हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि उन्हें समाज में ऐसा लाभप्रद काम मिल सके जिससे वे अपना व अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सकें। इसी आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि यदि किसी सुनिश्चित अवधि तक किसी को रोजगार प्राप्त न हो तो राज्य उसे योग्यता के अनुरूप बेरोजगारी भत्ता दे। पर्याप्त मजदूरी पाने के अधिकार का जन्म इसी अधिकार से ही हुआ है। इस अधिकार का भी यह अर्थ निकालना गलत होगा कि सभी को आय की समानता प्राप्त हो। इसका अभिप्राय तो समानता के सामान्य सिद्धांतों से अनुरूपता स्थापित करना ही है। काम का अधिकार व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत एक ऐसा दावा है जिससे वे समाज में अपना सुनिश्चित स्थान बना सकते हैं और इस स्थान के अनुरूप अपना कार्य संपादित कर सकते हैं।

नागरिकों का पाचवां महत्त्वपूर्ण अधिकार पर्याप्त *स्वास्थ्य सुविधाएं* प्राप्त करना है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य हमें समस्त रोगों से मुक्ति दिला सकता है। ऐसी मुक्ति तो हमें स्वयं हमारी स्वास्थ्य साधना से ही मिल सकती है। यदि पक्षाघात से पीड़ित कोई व्यक्ति राज्य द्वारा दी जाने वाली स्वास्थ्य सुविधाएं लेने से इंकार कर दे तो राज्य को इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। स्वास्थ्य संबंधी अधिकार का सहज अर्थ यही है कि किसी भी व्यक्ति को जो चुस्त-तंदुरुस्त रहने का इच्छुक हो, समुचित स्वास्थ्य चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध होनी ही चाहिए। राज्य का यह दायित्व है कि वह सभी को पर्याप्त चिकित्सा व उपचार की सुविधाएं उपलब्ध कराए। राज्य को यह सुनिश्चित करना होता है कि गरीब रोगियों की चिकित्सा में उपेक्षा नहीं होगी, उनके इलाज में कोई अकुशलता नहीं होगी। राज्य का यह भी दायित्व है कि वह संक्रामक रोगों के फैलाव को रोकने के पर्याप्त उपाय करे। राज्य टीके लगवाकर ऐसा प्रभावी उपाय कर सकता है।

समुचित शिक्षा का अधिकार मानव विकास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक है। नागरिकों को ऐसे साधन सुलभ होने चाहिए जिनसे लाभान्वित होकर वे सार्वजनिक विषयों की चर्चा में रुचि ले सकें तथा देश की सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की बुद्धिमत्तापूर्वक मांग कर सकें, किंतु शिक्षा के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि सबको समान शिक्षा प्राप्त हो। स्पष्टतः लोग क्षमताओं व अभिरुचियों की दृष्टि से भिन्न होते हैं और इसलिए वे समान रूप से शिक्षा के अधिकारी नहीं हो सकते। इस अधिकार का यह भी अर्थ नहीं है कि समाज में हर किसी को विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त हो ही, चाहे वह इसके योग्य हो अथवा नहीं। समाज के अनुपयुक्त व अनिच्छुक सदस्यों को पढ़ाना वास्तव में मानव संसाधनों का दुरुपयोग ही होगा। आवश्यक यह है कि समाज में हर किसी को न्यूनतम शिक्षा सुविधा प्राप्त हो जो

उनकी नागरिकता को सार्थक बनाए और वे समाज के आवश्यक कार्यों को संपन्न कर सकें।

अन्य अधिकारों में राज्य के मामलों में भागीदारी का अधिकार विशेष उल्लेखनीय है। जिसके अंतर्गत मतदान व चुनाव लड़ने के अधिकार है। ऐसे अधिकारों में संघों का गठन तथा विश्राम के पर्याप्त घंटों का प्रावधान भी उल्लेखनीय है। किसी राज्य को वास्तविक अर्थों में एक राजनीतिक समुदाय बनाने के लिए अधिकार नितांत आवश्यक हैं। इन अधिकारों की मदद से ही हम सक्रिय नागरिक बन सकते हैं। प्र इन अधिकारों की मान्यता का अनुपात किसी राज्य की प्रकृति के अनुसार घटता-बढ़ता रह सकता है। तथ्यतः, राज्य अक्सर इन अधिकारों को प्राथमिकता के क्रम में ही समायोजित करता है। यह प्राथमिकता संबंधित समाज की विशिष्ट प्रकृति व समस्याओं पर निर्भर करती है। किसी ऐसे समाज में जहां व्यापक स्तर पर गरीबी हो, आर्थिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकार पर वरीयता दी जाएगी। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से विकसित किसी समाज में राजनीतिक अधिकारों पर अधिक बल देने की आवश्यकता प्रतीत होगी। सोवियत संघ जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित कुछ साम्यवादी देशों में राजनीतिक जीवन व तत्संबंधी प्रक्रियाओं को उदार बनाने पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था वह इस बात का प्रमाण है कि कोई भी समाज राजनीतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान किए बिना एक सुदृढ़ एवं स्थायी सामाजिक संगठन की स्थापना नहीं कर सकता।

वास्तव में, किसी सरकार का स्वरूप महत्त्वपूर्ण नहीं होता बल्कि महत्त्वपूर्ण होता है उसके मूल भाव व उपलब्धियों का, उसके नागरिकों को उनके वास्तविक जीवन प्रसंगों में उपलब्ध सुख की सीमा का तथा सरकारी उद्देश्यों के प्रति विकसित जनविश्वास का। यह संभव है कि किसी राज्य में लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो और फिर भी वह राज्य नितांत कुशासन का शिकार हो। यदि कोई राज्य, उक्त वर्णित अधिकारों को अपने नागरिकों के लिए चरितार्थ करे, और उनको निष्ठापूर्वक लागू करे तो अन्य समस्त अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाएंगे।

जब तक कोई राज्य अपनी जनता को सुखी रख समर्थ होता है तब तक यह इतना महत्त्वपूर्ण होता कि उसकी जनता अधिकार-पत्र के रूप में अधिकारों का या उनका उपभोग करती है अथवा नहीं। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जहां संविधान में निरूपित अधिकार-पत्र के रूप में नागरिकों को अधिकार सुरक्षित कराए गए हैं फिर भी व्यवहार में वे अनुपलब्ध ही रहे हैं। यह हो सकता है कि संविधान में अधिकारों के उल्लेख से अधिकारों को अधिक मान्यता अवश्य प्राप्त होती है लेकिन इससे उसकी उपलब्धि सुनिश्चित नहीं होती। हिटलर और मुसोलिनी अपने-अपने देशों में तानाशाह के रूप में प्रकट हुए, यद्यपि इन देशों के संविधान अत्यधिक लोकतांत्रिक थे। इन अधिकारों की वास्तविक प्राप्ति के लिए प्रबुद्ध जनमत और शिक्षित जनता का होना एक पूर्व शर्त है।

अब प्रश्न उठता है राजनीतिक आज्ञाकारिता का। क्या लोगों को एक अवैधानिक सत्ता के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए ? वास्तव में स्वेच्छाचारी एवं तानाशाही शासन के विरोध में प्रतिकार करने का अथवा ऐसी सत्ता का प्रतिरोध या अवज्ञा करने का अधिकार सबसे अधिक मौलिक और अंतर्निहित अधिकार है। कोई अच्छी से अच्छी सरकार भी इस अधिकार को नहीं छीन सकती। जनता के हाथों में यह अंतिम प्रभावी सुरक्षा उपाय है। राज्य हित अंततः समाज और उसके सदस्यों के हितों की पूर्ति पर ही आधारित है। दोनों राज्य के प्रति आवश्यक रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। राज्य के प्रति

हमारा कर्तव्य आखिरकार किसी ऐसे राज्य के प्रति ही है जो हमारे जीवन के संरक्षण व अनुरक्षण में समर्थ हो, जो हमारे विकास की समुचित स्थितियों को सुरक्षित करता है। लॉक का यह तर्क था कि राज्य एक न्यास (ट्रस्ट) है और इस कारण उसे जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति की रक्षा करना ही है। यदि वह उस कार्य को संपादित करने में विफल होता है जिसके लिए उसे शक्ति प्रदान की जाती है या वह उन साध्यों की उपलब्धि में असमर्थ रहता है जिनसे सामान्य सुख सुलभ कराया जा सके तो ऐसी स्थिति में वह सामान्य आज्ञापालन का अपना दावा भी खो देता है। ऐसी परिस्थितियों में नागरिकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे प्रभावी सत्ता का प्रतिरोध करें ताकि उसको बदला जा सके और किसी बेहतर सरकार को उसका स्थान दिलाया जा सके। कोई भी राज्य तब तक सहज निरंतरता के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकता जब तक कि समाज के इस अधिकार (अवज्ञा के अधिकार) को अंतिम रूप से सुरक्षित व पवित्र अधिकार के रूप में मान्यता नहीं दी जाती। निसंदेह समाज द्वारा ऐसे अधिकार को मान्यता देने में कई खतरे या जोखिम विद्यमान होते हैं। ऐसे खतरों को यथासंभव कम करने या दूर करने के लिए यह जरूरी है कि राज्य ऊपर वर्णित सुरक्षा उपायों के लिए आवश्यक सावधानी बरते।

अधिकार व कर्तव्य के बीच संबंध

इस बात पर पर्याप्त बल देना आवश्यक है कि अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्तव्य व दायित्व भी जुड़े हुए हैं। इन दोनों में सह-संबंध व्याप्त है। नागरिकों के अधिकार व कर्तव्य वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों में दो प्रकार के संबंध दिखाई देते हैं।

प्रथम, कोई भी समाज पारस्परिकता के सिद्धांतों पर ही क्रियाशील हो सकता है। उदाहरण के लिए हमारे अधिकारों के संदर्भ में समाज का यह दायित्व है कि वह उन्हें यथोचित सम्मान दे। इसके साथ ही हमारा भी कर्तव्य बन जाता है कि हम दूसरों के ऐसे ही अधिकारों को समान मान्यता प्रदान करें। समाज इस सिद्धांत पर कार्य करता है कि "जो पाता है वह देता है और जो देता है वह पाता भी है।" वास्तव में हमारा अधिकार समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक कल्याण का एक अटूट हिस्सा है। इस कारण किसी अधिकार विशेष संबंधी हमारे उपभोग का अनुपात अनिवार्यतः इस तथ्य पर टिका होता है कि समाज के अन्य सदस्य इस अधिकार का उतना ही उपभोग कर पाते हैं अथवा नहीं। हमारे अधिकार इस अर्थ में समाज के अन्य सभी सदस्यों के उक्त अधिकार से अटूट रूप से जुड़े हुए है। एक पक्ष दूसरे के बिना अस्तित्व में रह ही नहीं सकता। किसी समाज में जहां लोग अपने कर्तव्यों पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि अपने अधिकारों पर, वह समाज कभी-कभी विघटित हो जाता है। दूसरे व्यक्तियों के मूल्य पर उनके स्वयं के अधिकारों को अक्षुण्ण रखने संबंधी उनके निरंतर प्रयास वास्तव में उस समाज को एक ऐसे जंगल के रूप में बदल देते हैं जिसमें अंततः 'बल का कानून' ही हावी हो जाता है। हर कोई अपने अधिकारों का समान उपभोग कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे के प्रति अपने दायित्व व कर्तव्यों को सहज स्वीकार करें। हम यह बिल्कुल नहीं कह सकते कि हम तो हर प्रकार से मुक्त रहेंगे, जबकि अन्य सभी लोग अपने दायित्वों के बंधनों से जकड़े रहेंगे। ऐसी कोई भी मान्यता न केवल संगतहीन है बल्कि अमानवीय भी है।

द्वितीय, अधिकारों व कर्तव्यों के तर्क का यह भी निहितार्थ है कि यदि राज्य के विरुद्ध हमारे

कोई दावे हैं तो उसकी समृद्धि की दिशा में हमारे कुछ उत्तरदायित्व भी हैं। इन दायित्वों का निर्वाह हम ऐसे कार्यों द्वारा करते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होते हैं। राज्य उन स्थितियों का निर्माण करता है जिनमें हम अपने आपको सर्वाधिक उपयुक्त रूप से पा सकते हैं ; अर्थात अपने व्यक्तित्व व क्षमता का सर्वोत्तम विकास कर सकते हैं। इसके बदले हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम इन स्थितियों का सर्वोत्तम लाभ उठाएं और उनको अपना सर्वोत्कृष्ट योगदान दें। समाज को हमारा सबसे अच्छा योगदान केवल यही हो सकता है कि हम जीवन में अपने निर्दिष्ट स्थान पर रहते हुए अपना उत्तरदायित्व निभाएं, अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को स्वीकार करें तथा समाज के अन्य सदस्यों के अधिकारों को अपना पूर्ण सम्मान दें। समाज में कोई भी व्यक्ति प्रधानमंत्री के पुत्र अथवा कवि के रूप में ही अपना योगदान दे यह आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह है कि वह अपने आपको स्वयं पहचानते हुए अपनी क्षमता व सामर्थ्य के आधार पर ईमानदारी से समाज को अपना योगदान । हममें से हर एक का यह कर्तव्य है कि हम हर स्थिति में अपने व्यक्तित्त्व का विकास करें ताकि हम समाज को सर्वोतम योगदान दे सकें। यह संभव है कि हम जीवन में पर्याप्त सफलता न पा सके लेकिन यदि हम समाज के प्रति अपने सक्षम योगदान की दिशा में गंभीर व निष्ठावान प्रयासों का पर्याप्त संकेत भी दे देते है तो हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता ा हर नागरिक को उन स्थितियों और सवालों पर अपना मूल्यवान निर्णय देने के लिए तत्पर रहना चाहिए जिनका वह दैनिक जीवन में लगातार सामना करता है। उसे अनिवार्यत: राज्य को अपना कर (Tax) देना चाहिए तथा किसी भी स्थिति में समाज के अन्य सदस्यों के समान अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप से बचना चाहिए। जब तक राज्य व्यक्तियों के सुख के अनुकूल वातावरण बनाने में मदद करता है तब तक नागरिकों को भी एक कर्तव्य के रूप में कानून व व्यवस्था स्थापित करने में राज्य की आवश्यक सहायता करनी चाहिए। उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे ईमानदारी से अपने सार्वजनिक दायित्वों का पालन करें, अपने देश को मजबूत बनाने में कोई कसर न उठा रखें और आवश्यकता पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिए तैयार रहें।

पारस्परिकता के बंधन में बंधे ये दायित्व व्यक्तियों के अधिकारों पर कोई पाबंदी नहीं लगाते। इसके विपरीत, वे उन्हें अधिक पूर्णता तथा अधिक वास्तविकता प्रदान करते हैं। यह सोचना कि हमारे अधिकार हमारे कर्तव्यों से अलग हो सकते हैं वास्तव में कोरा स्वार्थी होना है। समाज में रहते हुए जब हम सामाजिक दृष्टि से कोई उपयोगी कार्य करते हैं तो हमारा वही कार्य हमारे समाज को समृद्ध करता है। ऐसे राज्य में जहां नागरिक अपने अधिकारों की परवाह अधिक करते हैं और कर्तव्यों की कम, वहां खतरनाक स्थिति पैदा हो सकती है; वहां अराजकता उत्पन्न हो सकती है जो अंतत: राज्य को विघटित कर सकती है। हमारे अधिकारों के समुचित संरक्षण प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम समाज को इस बात के प्रति आश्वस्त करें कि उन अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करके समाज हमें वास्तव में लोककल्याण से प्रेरित भागीदारी के लिए ही तैयार कर रहा है। हमें समाज को यह समझाना ही होगा कि जब तक समाज हमारे अधिकारों की सुरक्षा नहीं करता तो वास्तव में वह हमें अभीष्ट मानव स्तर से गिरा देता है और उस सीमा तक वह हमें सामाजिक कल्याण को समृद्ध करने के अवसर से वंचित कर देता है। समाज के सदस्यों में व्याप्त वैयक्तिक कार्यों

सामाजिक कल्याण के उचित समीकरण द्वारा ही रचना कर सकते हैं और समाज को उसकी स्थापना
न अधिकार के किसी वास्तविक सिद्धांत की का ठोस आधार मिल सकता है।

अभ्यास

1. अधिकार किसे कहते हैं ? अधिकार और दावे में क्या अंतर है ?
2. अधिकार व्यक्ति की उन्नति के लिए क्यों आवश्यक हैं ?
3. क्या अधिकार असीम होते हैं ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
4. मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षा की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. नागरिक किन परिस्थितियों में राज्य की अवज्ञा कर सकता है ?
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (क) समानता का अधिकार।
   (ख) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।
   (ग) काम करने का अधिकार।

राज्य गतिविधि की बदलती प्रकृति

व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है तो किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक है। समाज में यह संघर्ष अव्यवस्था एवं भ्रम की स्थिति पैदा न कर दे, इस हेतु एक ऐसी संस्था की आवश्यकता उत्पन्न होती है जो कानून एवं व्यवस्था को सुनिश्चित कर सके तथा सामाजिक संबंधों में सौहार्द बनाए रख सके ; वह संस्था 'राज्य' है। हमारे समाज विरोधी आवेगों को नियंत्रित करने एवं समाज में विभिन्न दावों में सामंजस्य पैदा करने हेतु हमें राज्य की आवश्यकता होती है ताकि सामाजिक संबंधों में सौहार्द्रता हो सके। राज्य, उन बाह्य दशाओं को उत्पन्न करने के लिए अस्तित्व में आता है जो मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। राज्य की भूमिका मानव शरीर में पेट की भूमिका के समान है। यह सत्ता के प्रतिरूप को अभिव्यक्त करता है। यह विभिन्न एवं परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य पैदा करता है। यह वस्तुओं एवं सेवाओं के शांतिपूर्ण विनिमय को सुनिश्चित करता है।

मानव व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए राज्य कानूनों एवं नियमों का निर्माण करता है। कानूनों के उल्लंघन की स्थिति में वह उनके अनुपालन के लिए सदस्यों को बाध्य कर सकता है। समाज में राज्य के दावें किसी भी अन्य के दावों से उच्चतर होते है। आर. एम. मेकियावर के शब्दों में "राज्य एक ऐसा संघ है जो कि सरकार के जारी कानूनों द्वारा कार्य करता है। इस उद्देश्य को वह दमनकारी शक्तियों के साथ संपन्न करता है। निश्चित भूभाग में समुदाय के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था की, सर्वव्यापकीय बाह्य दशाओं को बनाए रखता है।" राज्य का प्रारंभिक कर्तव्य नागरिकों के अधिकारों की आंतरिक खतरे या गड़बड़ी से तथा युद्ध, आदि जैसे बाह्य खतरों से सुरक्षा प्रदान करना एवं शांति स्थापित करना है। इसे अपने सदस्यों के विकास हेतु भी कार्य करना होता है। राज्य के इन्हीं कार्यों के कारण प्राचीन काल में अरस्तू ने कहा था कि 'राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया, और अच्छे जीवन के लिए सतत विद्यमान है।'

राज्य गतिविधि की बदलती अवधारणा

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान एवं तकनीकी विकास द्वारा व्यापक सामाजिक परिवर्तन आया है। इन सभी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय संप्रभुता तथा आर्थिक गतिविधियों के नियंत्रण हेतु राज्य एवं सरकार के संपूर्ण तंत्र पर एक नए परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है। हमें एक नया दृष्टिकोण विकसित करना होगा, जिसमें व्यक्तिवाद एवं समूहवाद दोनों को समाहित किया जा सके तथा आधुनिक विश्व की दशाओं के अनुरूप उन्हें व्यवस्थित भी किया जा सके।

राज्य की व्यवस्था केवल व्यवस्था मात्र के लिए नहीं है। जैसा कि कौटिल्य ने कहा है कि यह सुरक्षा, संरक्षण, विकास एवं वितरण के लिए भी है। यह

नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है, प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करता है, उनके विकास करने हेतु कदम उठाता है तथा नागरिकों के मध्य राष्ट्रीय संपदा का वितरण करता है। 'व्यवस्था' की अवधारणा का विस्तार संरक्षण में होता है, संरक्षण का विस्तार जिस किसी को भी संरक्षित किया गया है उसके विकास में तथा जो विकसित किया गया है उसके उचित बंटवारे में हो जाता है। 19वीं सदी में स्थायित्व एवं सुरक्षा प्रदान करना राज्य का मुख्य कार्य माना जाता था। साथ ही निजी उद्यमियों को देश में एवं विदेश में समर्थन प्रदान करने की भी आशा की गई थी।

आज राज्य के कार्य भिन्न हैं। इनमें कानून एवं व्यवस्था और विदेश नीति-निर्माण को आज भी सम्मिलित किया जाता हैं। किंतु इनके अतिरिक्त इन कार्यो में व्यापक सेवाओं एवं उद्योगों के प्रबंधन एवं प्रशासन को भी सम्मिलित किया जाता है। औद्योगिक क्रांति, राष्ट्र राज्य के उद्भव तथा नीतियों में जनसहभागिता के परिणाम-स्वरूप राज्य की भूमिका का विस्तार हुआ है। यद्यपि जब राज्य संरचना पूर्ण विकसित नहीं थी, लोग विकास की आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण के लिए राज्य की ओर नहीं देखते थें। किंतु अब लोग यह आशा करते हैं कि राज्य भूमि बटवारें, संपत्ति, आय, प्रजाति एवं रंग के कारण उत्पन्न असमानताओं को खत्म करें। इंग्लैंड की महान औद्योगिक क्रांति तथा अमेरिका में 1929-1933 की 'महामंदी' ने गंभीर आर्थिक संकट पैदा कर दिया था। प्रथम स्थिति के कारण संपत्ति कुछ हाथों में केंद्रित हो गई। इससे जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग गरीब हो गया और यह गरीब वर्ग अपने श्रम की बिक्री के लिए बाध्य हो गया। दूसरी स्थिति में आर्थिक संकटों ने व्यापक बेरोजगारी को बढ़ावा दिया। निजी संपत्ति, दुर्बल राज्य और स्थानीय कार्यक्रम व्यापक समस्याओं का सामना करने में बहुत ही अपर्याप्त थे। इसलिए राज्य को व्यापक राहत कार्य करने पड़े थे।

राज्य के अनिवार्य कार्य सदा लगभग एक जैसे ही रहे हैं, किंतु विभिन्न कालों में विभिन्न गतिविधियों को प्रमुखता दी गयी है। 19वीं सदी में राज्य को प्राथमिक रूप से कानून एवं व्यवस्था के लिए उत्तरदायी एक संगठन के रूप में देखा गया। यह प्रारंभिक उदारवाद का समय था, जिसमें उदारवादियों ने स्वतंत्र बाजार एवं अधिकतम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वकालत की। उन्होंने राज्य को एक बुराई के रूप में माना, किंतु प्रतियोगी समाज के आधार को बनाए रखने के लिए राज्य आवश्यक माना गया जो कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए जरूरी था। ये उदारवादी, स्वतंत्र बाजार, स्वतंत्र व्यापार तथा आर्थिक मामलों में राज्य के अहस्तक्षेप के समर्थक थे। राज्य का प्राथमिक कर्तव्य यह सुनिश्चित करना था कि नागरिक अपनी निजी वस्तुओं एवं अपनी खुशी के लिए एक-दूसरे को क्षति न पहुंचाए। यह मत अहस्तक्षेपकारी *(Laissez Faire)* राज्य के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इसका अर्थ है – पितृवत सरकार की अनुपस्थिति तथा व्यापार एवं वाणिज्य की स्वतंत्रता।

कल्याणकारी राज्य

राज्य गतिविधि के बारे में एक अन्य मत है। जिसमें राज्य अहस्तक्षेप सिद्धांतवादियों की भांति एक सीमित कार्य करने की संस्था नहीं माना जाता है। इस सिद्धांत में राज्य को सभी के कल्याण के लिए समाज को रूपांतरित करने के एक अभिकरण के रूप में माना जाता है। अर्थात् इस प्रक्रिया में राज्य सार्वजनिक कल्याण के लिए एक अभिकरण बन जाता है। जॉन मेनार्ड कीन्स (1883-1946) द्वितीय विश्वयुद्ध के समय की घटनाओं के संदर्भ में इस विचार के अग्रदूत रहें हैं। अधिक आग्रह इस बात पर दिया गया है कि राज्य को जनस्वास्थ्य एवं गरीबी उन्मूलन के क्षेत्र में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। यह आशा की गई

कि राज्य द्वारा ऐसी मूलभूत सुविधाओं को विकसित किया जाए जिससे जनता द्वारा राज्य के मामलों में सक्रिय सहभागिता हेतु प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम शिक्षा की प्राप्ति हो सके। साथ ही, राज्य को सभी नागरिकों के लिए काम के अधिकार, आय को अर्जित करने के अधिकार तथा आवास के अधिकार को सुनिश्चित करना चाहिए। राज्य इस प्रकार नियंत्रक, प्रोत्साहक, एवं एक प्रबंधक सब कुछ बन जाता है। सभी को न्याय प्रदान करने के लिए राज्य निजी उद्यमों को नियंत्रित करता है। यह कृषि को आर्थिक सहायता (सब्सिडी) प्रदान करता है एवं भूमि-सुधार हेतु कार्य करता है। यह सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में उद्यम स्थापित करके उद्योगों को व्यवस्थित करता है।

स्वतंत्रता उपरांत, भारतीय राज्य ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर कार्य किया है। हमनें समाज में असमानताओं को कम करने, सुरक्षा का वातावरण पैदा करने तथा सभी को राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करने के व्यापक प्रयास किए हैं। 'गरीबी हटाओं' एवं 'सभी के लिए रोजगार' जैसे नारे आम हो गए है। राज्य ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति सहित दुर्बल अल्प वर्ग के सामाजिक अधिकारों की सुनिश्चितता के लिए अतिरिक्त प्रयास किए हैं। बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। प्रमुख उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए। इस प्रकार राज्य देश में सबसे बड़ा नियोक्ता बन गया। निजी क्षेत्र को व्यापक राज्य नियंत्रणों के अधीन कर दिया गया, परंतु राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था का अनुभव इनकी कमियों को भी उजागर करने लगा। यह अनिवार्यत: नौकरशाहीकरण एवं लालफीताशाही की ओर अग्रसर करता है। उदाहरण के लिए भारत में इसे 'लाइसेंस-परमिट राज' के रूप में जाना जाता है। यह प्रोत्साहनों, अवसरों एवं उत्तरदायित्वों को दबा देता है, एवं स्वैच्छिक गतिविधियों को बढ़ावा देना बहुत कम हो जाता है। साथ ही राज्य से अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। परिणामस्वरूप राज्य पर बहुत ज्यादा दबाव पड़ने लगता है। राज्य से अधिकतम लाभ की मांग के लिए प्रत्येक हित एक निहित स्वार्थ में बदल जाता है। प्रारंभिक वर्षों में विभिन्न वर्गों को रियायतें देने की कुछ क्षमता राज्य के पास थी। साथ ही नेतृत्व वर्ग को भी, उनके स्वतंत्रता आंदोलन में सहभागिता के कारण, बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किंतु जैसे ही पुराना नेतृत्व ओझल होने लगा वैसे ही बढ़ती हुई मांग का सामना करने की राज्य की क्षमता घटने लगी। राजनीतिक व्यवस्था में संकट के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे। व्यक्ति के निजी पहल की क्षमता दमित हो गयी और राज्यतंत्र भ्रष्ट हो गया।

राज्य गतिविधि की प्रकृति के तृतीय मतानुसार, आज, निजी उत्पादन एवं सामाजिक उपयोग पर जोर दिया जाता है। मान्यता यह है कि राज्य को स्वयं आर्थिक गतिविधियों का संचालन तथा इसे केवल मददगार या नियंत्रक के रूप में ही कार्य करना चाहिए। एक तरफ राज्य एवं निगमों तथा दूसरी तरफ राज्य एवं कृषि के मध्य एक नए संबंध उत्पन्न हो रहे हैं। यह सोच बढ़ती जा रही है कि जितना ज्यादा हम निजी प्रतियोगिता एवं पहल को बढावा देगें, हमारी अर्थव्यवस्था का उतना ही विकास होगा। प्रतियोगिता को नियंत्रक एवं मददगार राज्य के विचार के साथ जोड़ा जाए। यह राज्य का दायित्व है कि वह यह सुनिश्चित करे कि प्रतियोगिता की दशाएं एवं शर्तें तथा सामाजिक-आर्थिक क्रियाएं, न्याय संगत एवं निष्पक्ष हों। जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक *ए थियोरी ऑफ जस्टिस* (A Theory of Justice) में इन मान्यताओं को विशेषरूप से सामने रखा है। इस प्रारूप की सफलता की एक मूल शर्त यह है कि राज्य को सभी के लिए समान अवसर सुनिश्चित करने चाहिए। पूर्व व्यवस्था ने आर्थिक सहायता (सब्सिडी) एवं आरक्षण के संदर्भ में इसे प्राप्त करने का प्रयास किया। इसने राज्य तथा उसके निर्णयों से

प्रभावित होने वालों, विशेषकर कमजोर वर्ग के मध्य, संरक्षक-ग्राहक (patron-client relationship) संबंध पैदा किए। इस नए माडल का जोर इस बात पर है कि राज्य को शिक्षा एवं स्वास्थ्य में अधिकतम निवेश करना चाहिए। ये ऐसी आधारभूत आवश्यकताए हैं जिनके अभाव में अवसर की समानता नहीं हो सकती, जो कि एक निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण समाज के लिए बहुत ही आवश्यक है। साथ ही यह भी महसूस किया जा रहा है कि राज्य को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि आर्थिक विकास हमारे पर्यावरण को विध्वंस न कर सकें। यह वास्तव में राज्य का दायित्व है कि वह अपने सभी नागरिकों को मूल सुरक्षा कवच प्रदान करे।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में राज्य गतिविधि से संबंधित एक अन्य मत हाल ही में उजागर हुआ है। यह मत एक ओर तो वैश्वीकरण और दूसरी ओर लोककल्याणकारी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत श्रमिकों में व्याप्त निराशा के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है। विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को विश्व-अर्थव्यवस्था से भी एकीकृत करने का अभियान चला है। ऐसा माना जाता है कि लोककल्याणकारी या समाजवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बाजार अर्थव्यवस्था, आर्थिक विकास को बेहतर ढंग से प्रेरित कर सकती है। आर्थिक विकास में गति की तीव्रता धीरे-धीरे गरीबी को कम कर सकती है। इससे बेहतर राजनीतिक प्रबंध भी संभव हो सकेगा।

वैश्वीकरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुछ वर्षों से वैश्वीकरण की प्रक्रिया चल रही है जिसने राज्य गतिविधि की प्रकृति को प्रभावित किया है।

वैश्वीकरण भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। कुछ लोगों के लिए यह साहसपूर्ण नई दुनिया है जहां कोई भी अवरोध नहीं है। दूसरों के लिए इसका तात्पर्य नव-उपनिवेशवाद की प्रक्रिया से है, जहां अंततः संपन्न देश ही प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे।

उपर्युक्त दोनों विचार दो विपरीत छोर पर हैं। वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें विचारों, सूचनाओं, तकनीकियों, वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान से अर्थव्यवस्थाएं प्रभावकारी ढंग से समाहित होती हैं। यह हाल में हुई प्रौद्योगिक क्रांति की उपज है जो संचार-गति की तीव्रता के परिणामस्वरूप पूंजी, वस्तुओं एवं सेवाओं की गति में तीव्रता सन्निहित करती है। वैश्वीकरण का सार है– 'संबंधता'। इस प्रकार के एकीकरण के अनेक आयाम हैं– सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक।

वैश्वीकरण के संबंध में कई आशंकाएं हैं। अधिकांश आशंकाएं इस संभावना से उठती हैं कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक समाकलन, स्थानीय रीति-रिवाज़ एवं परंपराओं को खतरे में डाल सकती है, किंतु वर्तमान युग में इस प्रकार के खतरे से बचा नहीं जा सकता; क्योंकि पूंजी और वित्त, वस्तुओं और सेवाओं के आर्थिक समाकलन का प्रभाव, जो प्रौद्योगिकी का परिणाम है, सर्वत्र व्याप्त है।

यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वैश्वीकरण कोई नया तथ्य नहीं है। इसकी शुरुआत काफी पहले हो चुकी थी। सन 1870 और 1940 के बीच व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक दृष्टि से तीव्र एकीकरण हो रहा था, किंतु अंतर्युद्धकाल में स्थानीय उद्योगों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा सीमा शुल्क के अवरोध निर्मित किए गए। फिर भी प्रौद्योगिकी की तीव्र गति ने राज्यों के बीच अंतःक्रिया को हाल में पुनः बढ़ावा दिया है। वास्तव में अधिकांश अर्थशास्त्रियों के मत में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, विकासशील देशों के साथ ही सामान्यतः सभी देशों के लिए भी लाभकारी है। उदाहरण के लिए विदेशी पूंजी के प्रवाह ने पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

अगर विकासशील देश वास्तव में वैश्वीकरण प्रक्रिया से पूरा लाभ उठाना चाहते हैं तो उन्हें विभिन्न प्रकार की भूमिका निभाने के लिए अपने को तैयार करना होगा। उन्हें यह आश्वस्त करना होगा कि उनकी *अर्थव्यवस्था* पूर्ण क्षमता को प्राप्त कर सके। उन्हें विदेशी मुद्रा के आगमन एवं निर्गमन को भी नियंत्रित करना होगा ताकि अचानक अस्थिरता उत्पन्न हो जाने से अर्थव्यवस्था में कोई संकट न उपस्थित हो जाए, जैसा कि हाल ही में पूर्वी-एशियाई *अर्थव्यवस्था* में हुआ था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व व्यापार संगठन (WTO) को जन्म दिया है जिसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष आर्थिक क्रियाकलापों के लिए एक समुचित ढांचा विकसित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यद्यपि विकसित देशों ने मुक्त व्यापार का समर्थन किया है, तथापि वे सदा 'निष्पक्ष' नहीं रह सके हैं क्योंकि बहुत सारे उत्पादों पर उनके व्यापार-शुल्क की सीमाएं अपेक्षाकृत अधिक ऊंची रही हैं। उदाहरणार्थ, कुछ विकसित देशों में मुख्य खाद्य-उत्पादों पर 'व्यापार-शुल्क सीमा' शत-प्रतिशत से भी अधिक है।

कुछ भी हो, चूंकि वैश्वीकरण को प्रौद्योगिक प्रगति से जोड़ा गया है, अतः इसका होना अपरिहार्य है। *विकासशील राज्य पर्यावरण* के क्षेत्र में, *श्रम-स्तर एवं* देशज ज्ञान एवं उत्पादों की रक्षा की दिशा में अपने सामर्थ्य के अनुसार अधिकतम प्रयास द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें अपने एक स्वाधिकार क्षेत्र (Patent Regime) को सुदृढ़ करना होगा। किंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि राज्यों को, अपने घरेलू आर्थिक विकास की गति-तीव्रता द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्पर्धा करने में सक्षम होना होगा। उदाहरण के लिए, सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कौशल के स्थानांतरण का अर्थ होगा सूचना प्रौद्योगिकी के विशेषज्ञों का देशांतरण। इस संबंध में भारत को यह सुनिश्चित करना होगा कि उसकी लाभप्रद स्थिति बनी रहे और इसमें कोई गिरावट न आए। वैश्वीकरण राज्यों को बाध्य करता है कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण के क्षेत्र में अधिक निवेश करके समाज के गरीब और कमजोर वर्गों को सुरक्षा प्रदान करे। निश्चय ही इससे घरेलू स्तर पर न्याय एवं स्थानीय उद्योग व उत्पादों की कुशलता सुदृढ़ होगी जो विदेशों में स्पर्धा कर सके। वास्तव में राज्यों से अधिकाधिक मांग की जाती है कि वह वैश्वीकरण की पूरी प्रक्रिया को मानवीय स्वरूप प्रदान कर सके।

अभ्यास

1. 'राज्य एक अनिवार्य संस्था है' इस कथन की पुष्टि के लिए तीन तर्क दीजिए।
2. कौटिल्य के अनुसार राज्य की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
3. बीसवीं शताब्दी में राज्य की बदलती हुए भूमिका के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. अहस्तक्षेपकारी राज्य (Laissez Faire) की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (क) लोककल्याणकारी राज्य
   (ख) 'लाइसेंस परमिट राज'
   (ग) वैश्वीकरण

इकाई तीन
तुलनात्मक
राजनीति

अध्याय 9

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम : पारंपरिक एवं आधुनिक

राजनीति क्या है?

प्राचीन यूनान में प्रशासन की इकाई 'नगर-राज्य' था और यह 'पोलिस' नाम से जाना जाता था। राजनीति शब्द, राज्य (पोलिस) के इस अभिप्राय से उपजा। अत: राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन अथवा ज्ञान है। तभी से यह नामकरण अभी भी प्रचलन में है। यद्यपि अब हम बड़े राज्यों के युग में रह रहे हैं जिनकी विस्तृत प्रादेशिक सीमाएं है, बड़ी मात्रा में जनसंख्या है।

व्यापक रूप में, राजनीति-विज्ञान, राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन, यह सब राज्य संबंधी ज्ञान और राज्य के अध्ययन से संबद्ध हैं और इनका प्रयोग प्राय: एकार्थी रूप में होता है। किंतु, यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इनमें कुछ अंतर स्पष्ट हो जाता है। राजनीति का प्रयोग सामान्य रूप में हो सकता है। राजनीतिक सिद्धांत जहां राज्य से संबंधित मुद्दों के सामान्यीकरण से संबद्ध है, वहां राजनीतिक दर्शन इन मुद्दों के नैतिक तथा मीमांसक शास्त्रीय आधार के अध्ययन पर जोर देता है। पुन: राजनीतिक दर्शन जहां राज्य विषयक मामलों में 'क्या होना चाहिए', पर बल देता है, वहीं राजनीति विज्ञान राज्य के मामलों में 'क्या हो रहा है' का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान आनुभविक है; और आनुभविक उपागम वैज्ञानिक है।

तुलनात्मक राजनीति

तुलनात्मक राजनीति समसामयिक राजनीतिक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यह वैज्ञानिक एवं व्यवस्थात्मक तरीके से राजनीतिक मुद्दों के अध्ययन में सहायक है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के क्षेत्र और उपागम अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक विकासों के कारण निरंतर व्यापक होते जा रहे हैं।

तुलनात्मक राजनीति अधिकांशत: राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, वैचारिक आधारों, विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के नियमों एवं सामाजिक संरचनाओं के तुलनात्मक विश्लेषणों से संबंद्ध है। तुलनात्मक राजनीति एवं तुलनात्मक सरकारों के मध्य एक अंतर पाया जाता है। तुलनात्मक सरकार में राज्य व्यवस्थाओं के विभिन्न रूपों, उनकी संस्थात्मक संरचनाओं एवं कार्य तथा उनकी सांविधानिक पृष्ठभूमियों एवं सूत्रीकरणों के अध्ययनों पर विचार विमर्श किया जाता है। दूसरी तरफ तुलनात्मक राजनीति का गैर-राज्य संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रिया एवं व्यवहार, सामाजिक संरचना के नियमों एवं मूल्यों से अधिक संबंध है। अत: तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र एवं ढांचा अधिक व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है।

अरस्तू को तुलनात्मक राजनीति का जनक तो माना जाता है, किंतु राज्यों की कानूनी संस्थाओं के ऐतिहासिक परीक्षण में उनकी अधिक रुचि थी। उनके अध्ययनों में सरकारों के राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनौपचारिक

संगठनों जैसे– जनजातियों, समुदायों, सामाजिक वर्गों एवं हित अभिकरणों के नियमों एवं व्यवहारों तथा शासक अभिजनों के विश्वास प्रतिमानों के विश्लेषण पर बहुत ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया।

उपागम : अभिप्राय

साधारण शब्दों में एक 'उपागम' का निरूपण किसी वस्तुविशेष के अभिप्राय तथा विशेष संदर्भ में उसकी व्याख्या से है। इसका परिप्रेक्ष्य अत्यधिक विस्तृत भी हो सकता है, जैसे, एक पूरे देश की राजनीति अथवा संकीर्ण भी हो सकता है, जैसे, क्षेत्रीय, स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ मुद्दे।

राजनीति के अध्ययन के कई उपागम हैं, और कभी-कभी कुछ उपागम एक-दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं। व्यापक अर्थों में इनका वर्गीकरण दो श्रेणियों में हो सकता है : पारंपरिक और आधुनिक।

पारंपरिक उपागम विचारात्मक और मूल्यात्मक प्रकृति के होते हैं और इसके विपरीत आधुनिक उपागम आनुभविक तथा वैज्ञानिक हैं।

सारांशत: पारंपरिक उपागमों में सम्मिलित हैं : (i) दार्शनिक, (ii) ऐतिहासिक (iii) कानूनी या वैधिक, और (iv) संस्थागत उपागम।

आधुनिक उपागमों के अंतर्गत हैं : (i) व्यवहारवादी उपागम और (ii) व्यवस्था उपागम। व्यवस्था-उपागम के अधीनस्थ हैं : निवेश- निर्गत एवं संचरनात्मक - कार्यात्मक उपागम।

पारंपरिक उपागम

दार्शनिक उपागम अथवा दार्शनिक नैतिक उपागम

राजनीतिक अध्ययन के अंतर्गत यह सर्वाधिक प्राचीन उपागम है। दार्शनिक उपागम अपने स्वरूप में आदर्शात्मक होता है। इसका आग्रह राज्य कार्यों के प्रतिमानों पर रहा है। इस उपागम पर जोर देने वाले राजनीति शास्त्री राज्य व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली में उच्च नैतिक सिद्धांत एवं प्रतिमानों में विश्वास करते हैं। इस उपागम में विश्वास रखने वाले विचारकों में प्लेटो, रूसो, कान्ट, हीगल, लियो स्ट्रास, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिक उपागम के आलोचक इसे अत्यधिक भावात्मक मानते हैं। यह हमें वास्तविकता से बहुत दूर ले जाता है और अव्यवहारिक है। यह सत्य है कि इस उपागम के समर्थक अपने सामने कुछ ऐसे आदर्श रखते हैं जो अप्राप्य हो; किंतु यह भी सत्य है कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयास में आधुनिक मापदंडों में निश्चित ही सुधार होगा, चाहे वे भले ही प्राप्त न किए जा सकते हों ।

ऐतिहासिक उपागम

ऐतिहासिक उपागम 19वीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में लोकप्रिय बना। यह इस विचार पर आधारित है कि राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की उपयुक्त समझ के लिए यह जरूरी है कि राज्य संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट जानकारी हो। इसका गुण है कि यह राज्य एवं उसकी संस्थाओं को उनके परिवर्तन की प्रक्रिया के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। किंतु सिद्धांतों तथा सामान्य प्रवृत्तियों की खोज में यह व्यक्तियों एवं संस्थाओं की केंद्रीय भूमिका एवं संस्थाओं की परिवर्तन की प्रक्रिया को दृष्टिलोप कर देता है।

किंतु, ऐतिहासिक उपागम के महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि इसके अंतर्गत राजनीतिक संस्थाओं, उनकी उत्पत्ति और विकास के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में यह उपागम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जी. एच. सेबाइन, मैकलेनिन, ए.जे. कार्लाइल, कैटलिन, डॅनिंग तथा अनेक विचारकों ने इस उपागम के महत्त्व को समझा और अपनाया है। ऐतिहासिक उपागम इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू से लेकर आधुनिक काल में लासवैल, रॉल्स, नोजिक आदि महत्त्वपूर्ण विचारकों के विचारों का समझने में यथेष्ट सहायक रहा है।

कानूनी पद्धति उपागम अथवा कानूनी-न्यायिक उपागम

यह उपागम राज्य के कानूनी एवं न्यायिक पक्षों के अध्ययन पर बल देता है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि इस उपागम के अंतर्गत कानून और न्याय को मात्र न्याय शास्त्र से नहीं जोड़ा जाता है। राजनीतिक सिद्धांती जो इस उपागम में विश्वास रखते हैं वे राज्य को प्रभावी एवं समतापूर्ण कानूनी व्यवस्था के सरंक्षण एवं लागू करने पर बल देते हैं। अत: यह उपागम राज्य को प्रमुख रूप से एक ऐसा संगठन मानता है जो कानून के निर्माण और उसके लागू करने का साधन है।

ज़ीन बोदां और हाब्स, जिन्होंने प्रभुसत्ता की अवधारणा को प्रतिपादित किया, इस उपागम के प्रारंभिक समर्थक थे। दोनों विचारक यह मानते थे कि संप्रभु सर्वोच्च कानून निर्माता ही नहीं है, बल्कि उसका आदेश ही कानून है। बेन्थम, ऑस्टिन एवं डायसी जैसे दार्शनिकों की रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं।

इस उपागम की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि कानून लोगों के जीवन के केवल एक ही पक्ष पर बल देता है। इस प्रकार यह राजनीतिक मानव के समस्त व्यवहार को प्रतिबिंबित नहीं करता।

संस्थात्मक उपागम अथवा संरचात्मक-संगठनात्मक उपागम

इस उपागम के विशेषज्ञ चाहते हैं कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र को औपचारिक संस्थाओं जैसे विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के सांविधानिक प्रावधानों तक ही सीमित होना चाहिए। यह उपागम राजनीतिक संस्थाओं के तुलनात्मक विश्लेषण पर भी बल देता है। संस्थात्मक उपागम 20वीं सदी के प्रथम चौथाई वर्षों के दौरान लोकप्रिय रहा। इस उपागम के समर्थकों में वाल्टर बेजहॉट, जेम्स ब्राईस तथा जी. सारतोरी आदि उल्लेखनीय हैं।

इस उपागम की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसका अध्ययन बहुत संकुचित है। यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था की औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों को क्रियाशील बनाने में मानव की भूमिका को दृष्टिलोप करता है। इसके अतिरिक्त यह राजनीतिक व्यवस्था के अनौपचारिक संगठनों जैसे दबाव समूहों का विश्लेषण नहीं करता और न ही यह सामाजिक संदर्भों में संस्थाओं की क्रियाप्रणाली पर ध्यान देता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि यह उपागम अत्यधिक संस्कृतिबद्ध है क्योंकि यह मात्र यूरोप तथा अमरीका की संस्थाओं के विश्लेषण पर ही बल देता है। यह सत्य है कि इस उपागम का धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से महत्त्व बढ़ा है और इसीलिए यह व्यवहारवादी उपागम में सन्निहित हो गया है। हम व्यवहारवादी उपागम के संबंध में अगले कुछ पृष्ठों में पढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त यह उपागम औपचारिक नियमों और संस्थाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है और इसीलिए इसे महत्त्वपूर्ण उपागम भी माना जाता है।

आधुनिक उपागम

व्यवहारवादी उपागम

पारंपरिक उपागमों के अंतर्गत हम चार विभिन्न उपागमों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। ये सभी सिद्धांत मूलत: नियामक ही नहीं अपितु मूल्यनिष्ठ भी हैं। आलोचकों के अनुसार मूल्यनिष्ठ उपागम मूलतः आदर्शवादी और स्वप्नवादी होते हैं। इसी कारण अव्यवहारिक हैं। विज्ञान में कारकों अथवा तथ्यों का अध्ययन होता है, मूल्यों का नहीं। आधुनिक उपागमों के समर्थक सभंवत: इसीलिए राजनीति से संबंधित मामलों का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति मूलत: प्रासांगिक तथ्यों के संबंध में आनुभविक विश्लेषण पर बल देती है। वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पर्यवेक्षण, सांख्यकीकरण, सामान्यीकरण तथा एकीकरण का प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक उपागम की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति व्यवहारवाद में होती है। यह पद्धति राजनीतिक नायकों तथा संस्थाओं के बाह्य व्यवहार के प्रदर्शन में विश्वास रखती है। इस सिद्धांत का विश्वास है कि राजनीतिक नायकों तथा संस्थाओं के बाह्य व्यवहार के प्रदर्शन तथा उनके व्यवहार का वैज्ञानिक पद्धति द्वारा विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में जानकारी प्रदान करता है। यह प्रधानतया समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक उपागमों से बहुत कुछ ग्रहण करता है। जमर्नी के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्र राजनीति का आधार है। इसी प्रकार जो मनोवैज्ञानिक उपागम में विश्वास रखते हैं वे राजनीतिक संस्थाओं और तथ्यों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक नियमों के द्वारा करते हैं। उनका विश्वास है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के यंत्र राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन में अत्यधिक प्रमुख रूप से सहायता करते हैं।

अमरीका में 20वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में व्यवहारवादी क्रांति का उद्भव हुआ। व्यवहारवादी उपागम के प्रमुख दार्शनिकों में चार्ल्स मैरियम, हैंज़ यूलाऊ, राबर्ट डैहल, लासवेल, डेविड एस्टन तथा आमंड प्रमुख हैं।

व्यवहारीवादी उपागम के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :

- व्यवहारवादी, अभिकर्ता और समूहों के बाह्य आचरण और राजनीतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से राजनीति का अध्ययन करते हैं।
- वे एक नई पद्धति की वकालत करते हैं; और सर्वेक्षण संबंधी अन्वेषण पर बल देते हैं।
- उनकी पद्धति मूलतः अंतर्विषयी है।

यह कहा जा सकता है कि यह उपागम मूलतः प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों से बहुत कुछ ग्रहण करता है।

यूलाऊ को उद्धृत करते हुए कह सकते हैं कि व्यवहारवादी उपागम की केंद्रीय मान्यता रही है- कि 'व्यक्ति आधार है।' संस्थाएं केवल संरचना प्रदान करती हैं, जिसमें राजनीतिक अभिकर्ता (जो व्यक्ति होते हैं) अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। राजनीतिक अभिकर्ताओं की परस्पर अंतःक्रियात्मकता ही संरचना को निर्धारित करती है। वास्तव में, व्यवहारवादी उपागम, हमें राजनीतिक प्रक्रियाओं में गहरी समझ प्रदान करता है। वह इस बात को भी बताता है कि इस राजनीतिक प्रक्रिया में सामान्य नागरिक किस प्रकार भाग लेते हैं। यह लोकमत, दबाव समूह एवं हमारे अध्ययन के चुनाव परिमाणात्मक परिणामों को समझने में हमारी सहायता करती है। किंतु, जब संस्थाओं या प्रक्रियाओं का आसानी से परिमापन नहीं किया जाता तो यह उपागम कमजोर पड़ जाता है। एक प्रकार से व्यवहारवाद और संस्थात्मक, दोनों ही उपागम दो अतिवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यवस्था विश्लेषण उपागम

व्यवस्था विश्लेषण व्यवहारवादी उपागम का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि व्यवहारवादियों द्वारा राज्य के स्थान पर 'राजनीतिक व्यवस्था' का अध्ययन किया जाता है। व्यवस्था की परिभाषा है 'अनेक तत्त्वों की पारस्परिक अंतःक्रिया'। राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करने वाले यह जानना चाहते है कि

- राजनीतिक व्यवस्था के कार्य कौन-से हैं,
- राजनीतिक व्यवस्था की संरचना कैसी है, तथा
- किन दशाओं में व्यवस्था कार्य करती है।

उपर्युक्त तथ्यों को जानने के लिए व्यवस्था का विश्लेषण करने वाले दो प्रकार के उपागमों का प्रयोग करते है : (i) निवेश-निगर्त विश्लेषण, और (ii) संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण।

निवेश-निर्गत उपागम : इस उपागम को लोकप्रिय बनाने वालों में से डेविड ईस्टन का नाम उल्लेखनीय है। एक निवेश-निर्गत ढांचे का निर्माण करते समय

ईस्टन नए संचार-विज्ञानों से प्रभावित हुए। इस उपागम के अंतर्गत प्रमुख धारणा यह थी कि राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत पुनर्निवेश एक यंत्र के रूप में कार्य करते हैं जो विभिन्न सकारात्मक अथवा नकारात्मक सूचनाओं को स्थानांत्रित करते हैं। पुनर्निवेश के दो निवेश महत्त्वपूर्ण हैं- 'मांग' तथा 'समर्थन'। यदि किसी व्यवस्था में मांग अत्यधिक हो और सरकार उन्हें व्यावहारिक रूप न दे सके तो व्यवस्था टूट जाती है। दूसरी ओर, यदि जनसाधारण नियमों का समर्थन करता है तो व्यवस्था अपने आप को केवल बचा ही नहीं लेती अपितु स्थायी भी हो जाती है। इस प्रकार ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था की कार्यपद्धति का विश्लेषण गतिशील है, जबकि आमंड की व्यवस्था विश्लेषण स्थिर है।

संरचनात्मक- कार्यात्मक उपागम : संरचनात्मक उपागम की असफलता ने इस उपागम को उजागर किया। जैसा कि हम पहले देख चुके है कि संस्थागत उपागम के अंतर्गत तुलनात्मक राजनीति के आधीन अनेक संस्थाओं, जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का मुख्य रूप से अध्ययन किया जाता है। संस्थाओं का विवरण देने वाले विचारक यह मानते हैं कि ये संस्थाएं निश्चित सीमाओं में लगभग स्थायी होती हैं, किंतु संरचनात्मक- कार्यात्मक उपागम, विभिन्न स्थितियों का वर्णन करते हुए विशेषतया विकासशील राष्ट्रों के संदर्भ में जहां लगातार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है, इसे उचित नहीं मानते। जैसा कि देखने में आया है कि विकासशील देशों में संस्थाओं का व्यवस्थापन अस्थिर है; अत: इस उपागम के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के लिए कुछ ऐसे राजनीतिक कार्यों की पहचान करना आवश्यक है जिसे किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को अपनेआप को स्थायी बनाने के लिए क्रियान्वयन करना जरूरी है। यह संस्थाओं के अस्तित्व और प्रवीणता के औचित्य का राजनीति व्यवस्था परिप्रेक्ष्य में परीक्षण करता है। इस उपागम के आमंड एवं पावेल अग्रणी प्रतिपादक है। जिन्होंने तीन कार्यों, जैसे राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक सामाजीकरण एवं राजनीतिक संचार पर जोर दिया है। इन कार्यों का संबंध व्यवस्था के रखरखाव से है। साथ ही उनका कार्यों के बारे में यह भी मानना रहा है कि वे मांगों को नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन में परिवर्तित कर देते हैं। इनके अनुसार मांगों को सत्तात्मक निर्णयों एवं नीतियों में परिवर्तित होना चाहिए।

कार्यात्मक उपागम-तुलनात्मक राजनीति के अवधारणात्मक आधार को व्यापक करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। यह तुलनात्मक राजनीति को संस्कृति मुक्त उपागम प्रदान करता है और उन कारकों के संदर्भ में राजनीति को समझने का प्रयास करता है जो कि स्थायित्व एवं कार्यदक्षता प्रदान करते हैं किंतु इस उपागम की यह आलोचना की गई है कि यह बहुत ही रुढ़िवादी है। यह तर्क दिया जाता है कि विशेषकर विकासशील देशों के संदर्भ में यह उपागम राजनीतिक जीवन में संघर्ष एव परिवर्तन के तथ्य की उपेक्षा करता है। इन देशों में जहां कि अत्यधिक गरीबी रही है, स्वाभाविक रूप से लोगों की ज्यादा रुचि स्थायित्व की अपेक्षा परिवर्तन की प्रक्रिया में होती है। इसको कार्यात्मकवादी ढांचे में आसानी से समायोजित नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवादी उपागम

यहां यह उल्लेखनीय है कि हम एक अन्य उपागम मार्क्सवादी उपागम के बारे में भी जानकारी प्राप्त करें जो पारस्परिक और आधुनिक उपागमों से सर्वथा भिन्न है। मार्क्सवाद मुख्यत: वर्ग संघर्ष के संदर्भ में राजनीति की व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के परीक्षण के लिए सशक्त ऐतिहासिक ढांचा प्रदान करता है। मार्क्स ने अपनी विचारधारा के अंतर्गत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांतों का प्रयोग

किया है, ताकि अपनी संकल्पना के औचित्य को न्यायसंगत सिद्ध कर सके। इस संदर्भ में उसका मानना है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं एक वे जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है (अमीर वर्ग) और दूसरे वे जो शारीरिक श्रम के माध्यम से अपना जीवनयापन करते हैं (गरीब वर्ग)। इन दोनों वर्गों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है। यह तब तक चलता रहेगा जब तक वर्ग-विहीन एवं राज्य-विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती। (हम मार्क्सवाद के बारे में और अधिक विस्तार से पुस्तक के अंतिम भाग में जानकारी प्राप्त करेंगे।)

मार्क्सवादी उपागम 'व्यवहारवादी उपागम' से भिन्न है क्योंकि जहां व्यवहारवादी उपागम आधुनिक व्यवस्था (मूलत: पाश्चात्य) का संरक्षण करता है और उसका प्रयास रहता है कि यथास्थिति बनी रहनी चाहिए क्योंकि यह व्यवस्था अच्छी है; इसके विपरीत मार्क्सवादी उपागम आधुनिक व्यवस्था को पूर्णतय: नकारते हुए उसे अन्यायसंगत मानता है और उसे परिवर्तित करने का समर्थन करता है।

पारंपरिक और आधुनिक उपागमों के संक्षिप्त अध्ययन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि कई बार दोनों उपागमों के कुछ तत्त्वों में एक-दूसरे पर छाने की प्रवृति दिखाई देती है। उदाहरणतय:, प्राचीन काल में अरस्तू के राजनीति दर्शन में अनुभववाद के गुणों की झलक है। इसी प्रकार आधुनिक युग के विचारक डेविड ईस्टन की विचारधारा में सापेक्षिक मूल्यों की जड़े दिखलाई देती है। इसका अभिप्राय है कि विभिन्न अध्ययनों के अंतर्गत राजनीति का अध्ययन अनेक प्रकार से अंतर्संबंधित है।

कुछ क्षेत्रों में तो राजनीतिक संस्थाओं और उनके कार्यों का अध्ययन, नीति-विश्लेषण पद्धति से किया जाता है, परंतु नीति-विश्लेषण का आधार राज्य के मौलिक तत्त्वों/मूल्यों पर आधारित होता है। तथापि, प्रत्येक उपागम के अपने-अपने समर्थन बिंदु होते हैं। आधुनिक काल में राजनीतिक वैज्ञानिक प्रभावकारी ढंग से उनका उपयोग करता है। वह संस्थाओं और प्रक्रियाओं, सामूहिक निर्णयों तथा शक्ति संबंधों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य तथा उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने की चेष्टा करता है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र इतना विस्तृत और व्यापक हो गया है कि यह राजनीतिक प्रणाली के विभिन्न पक्षों, जो औपचारिक व अनौपचारिक, गुणात्मक व संख्यात्मक हो सकते हैं, के अध्ययन का प्रयास करता है।

अभ्यास

1. तुलनात्मक राजनीति से आप क्या समझते है?
2. 'तुलनात्मक सरकार' के संबंध में किन्हीं दो पारंपरिक उपागमों के नाम लिखें।
3. तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के आधुनिक उपागमों का वर्णन करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
   (क) दार्शनिक उपागम
   (ख) व्यवहारवादी उपागम
   (ग) मार्क्सवादी उपागम

अध्याय 10

राजनीतिक सामाजीकरण, राजनीतिक सहभागिता तथा राजनीतिक विकास

राजनीतिक सामाजीकरण

राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करते समय कोई भी यह जानने को उत्सुक हो सकता है कि किस *प्रकार राजनीतिक संस्कृति विकसित होती है और यह* क्या है? लोगों में विशेष प्रकार की आस्थाएं एवं अभिमुखताएं किस प्रकार विकसित होती हैं? ये आस्थाएं एवं मनोवृतियां एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक किस प्रकार हस्तांतरित की जाती हैं? जिस प्रक्रिया के द्वारा मनोवृत्तियां, मान्यताएं एवं अभिमुखताएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती है, उसे राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। यह 'राजनीति के बारे में लोग क्या, कब एवं कैसे जानते है,' का अध्ययन है। अंतरपीढ़ीय निरंतरता राजनीतिक संस्कृति का सार है। नए विचारों एवं मान्यताओं को स्वीकार करने की लोगों की तत्परता यथोचित व्यवहार का मामला है। प्रचलित राजनीतिक संस्कृति को अधिगम करने की यथोचित प्रक्रिया को राजनीतिक सामाजीकरण के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक सरल अधिगम सामाजीकरण का हिस्सा नहीं होता। सामाजिक प्रासंगिकता रखने वाला अधिगम ही सामाजीकरण की प्रक्रिया का हिस्सा होता है। सामान्य अंतर्क्रियाओं के माध्यम से ही व्यक्ति कुछ सामाजिक दायित्वों को ग्रहण करता है। राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सचेत प्रक्रिया ही हो। राजनीतिक सामाजीकरण व्यक्ति के जीवनपर्यंत जारी रहता है। विभिन्न कारक जैसे, अंतर्राष्ट्रीय परिवर्धन, आंतरिक रूपांतरण, ऐतिहासिक घटनाएं एवं सामाजिक उत्तेजक परिस्थितियां राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया को आकार प्रदान करते हैं।

राजनीतिक संस्कृति एवं राजनीतिक सामाजीकरण परस्पर संबंधित होते हैं। राजनीतिक सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक सस्कृतियां बनती हैं, संरक्षित रहती हैं एवं परिवर्तित होती है। इस प्रक्रिया द्वारा लोग अपनी अभिमुखताएं विकसित करते हैं। जब सर्वाधिकारवादी राजनीतिक अभिजन (Totalitarian Political Elites) इतिहास के लेखा-जोखों को संशोधित करने का प्रयास करते हैं तो वे राजनीतिक सामाजीकरण के उद्भव की प्रक्रिया को स्वरूपित एवं नियंत्रित करने का ही सामान्य प्रयास करते हैं। *अत: राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया* का अध्ययन करना अति महत्त्वपूर्ण है, ताकि राजनीतिक स्थिरता एवं राजनीतिक व्यवस्था के विकास को समझा जा सके।

राजनीतिक संस्कृति के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्तियां उसके संपूर्ण जीवन काल में बदलती रहती हैं। यह एक सतत प्रक्रिया है। बहुत सारी घटनाएं व्यक्ति के जीवनकाल में उसके स्वयं की अभिमुखताओं को स्वरूपित एवं निर्देशित करती हैं।

प्राय: राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया या तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परिलक्षित होती है। प्रत्यक्ष परिलक्षण की प्रक्रिया, राजनीतिक उद्देश्यों एवं संस्थाओं के बारे में सूचना, मूल्यों या भावनाओं के स्पष्ट संचार में निहित होती है। विद्यालयों में नागरिकशास्त्र के पाठ्यक्रम का शिक्षण एक प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण का उदाहरण है। अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक व्यवस्था में संस्थाओं के प्रति गैर-राजनीतिक मनोवृत्तियों के रूपांतरण में निहित होती है, इसमें राजनीतिक व्यवस्था में सारगर्भित संस्कृति के मौलिक पक्ष सन्निहित होते हैं। सामान्य रूप से राजनीतिक व्यवस्था की सांस्कृतिक संरचना के प्रति धारणाएं एवं अभिमुखताएं व्यवस्थात्मक अंतक्रियाओं में समायोजनता या आक्रामकता की मनोवृत्ति, बच्चे को प्रभावित कर सकती है।

जब व्यक्ति अपने मित्रों, परिवार, चर्च, शिक्षकों या कुछ अन्य अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करता है, तो वह विचारधारा या सरकार की कार्यप्रणाली या नीतियों के बारे में भी प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया को ही प्रत्यक्ष या प्रकट राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। दूसरी तरफ, अगर व्यक्ति प्रारंभिक अवस्था में ही सत्ताओं के प्रति मानव अभिवृत्तियों को विकसित करता है जो कालांतर में चलकर राजनीति अभिमुखता एवं प्रेरणा में परिवर्तित होती है; तो यही प्रक्रिया अप्रकट या अप्रत्यक्ष अनुकरणीयता, प्रत्याशित व्यवहार, राजनीतिक शिक्षा या राजनीतिक सहभागिता द्वारा अभिव्यक्त होती है। राजनीतिक सामाजीकरण की अप्रकट या अप्रत्यक्ष प्रक्रिया अंतर वैयक्तिक अन्योन्य क्रियाओं के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। जिसका तात्पर्य व्यक्तियों के निजी प्रभाव द्वारा मूल्यों, अभिवृत्तियों या विचारों की पारगम्यता से है।

राजनीतिक सामाजीकरण को प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रशिक्षण एवं शिक्षा के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में प्रदाता संस्था या संगठन के द्वारा पहल की जाती है। सामाजीकृत व्यक्तियों के साथ पहल नहीं की जा सकती। अधिकांश संगठन व संस्थाएं अपनी विचारधारा या अभिमुखताओं को प्रदान करने के लिए अपने औपचारिक एवं अनौपचारिक चैनल रखते हैं। राजनीतिक दलों की वार्षिक राजनीतिक बैठकें, ग्रेट ब्रिटेन में नागरिक पाठ्यक्रमों पर दिया जाने वाला जोर, गुएना के राजनीतिक अखाड़े, पूर्वी अफ्रीका में मसाइयों में होने वाला पहल समारोह तथा जनस्थानों पर प्रचार रैलियां, जैसी तकनीकें प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण के कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण, राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक अभिजनों, संरचनाओं एवं घटनाओं के साथ व्यक्ति के निजी अनुभव के द्वारा अस्तित्व में आता है। अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण अधिकांशत: अंतर्वैयक्तिक स्थानांतरण के द्वारा अस्तित्व में आता है। उदाहरण के लिए जो बच्चा परिवार के सर्वाधिकारवादी वातावरण में जन्म लेता है, अधिकांशत: सत्ता के सम्मुख आज्ञाकारिता की मनोवृत्ति को सीखता है।

राजनीतिक सामाजीकरण के कारक

राजनीतिक सामाजीकरण विभिन्न संस्थाओं एवं परिस्थितियों की सहायता से ग्रहण होता है। ये हैं : परिवार, समकक्षी समूह, शैक्षणिक संस्थाएं, गौण समूह; जैसे- कार्यस्थल, जनसंचार एवं सरकार तथा दलीय मशीनरी।

परिवार : परिवार राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया का मूल कारक है। केवल परिवार के द्वारा ही व्यक्ति की राजनीतिक प्रवृत्ति तय एवं विकसित होती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मूल्यों के रूपांतरण में परिवार सहायता प्रदान करता है। जब बच्चा परिवार से अपनी भौतिक एवं भावनात्मक सहायताएं प्राप्त

करता है तो यह स्वाभाविक है कि बच्चा परिवार के सदस्यों की राजनीतिक मान्यताओं एवं मनोवृत्तियों के द्वारा व्यापक रूप से प्रभावित होगा। माता-पिता अपने बच्चों के मुख्य भूमिका प्रारूपक होते हैं।

यह ध्यान रखने योग्य है कि इस स्तर पर राजनीतिक सामाजीकरण अपने स्वरूप में अधिकांशत: रूढ़िवादी होता है। बच्चा इससे अधिक प्रभावित होता है कि परिवार के परंपरागत विचार एवं व्यवहार बने रहें एवं उनकी निरंतरता रहे। हालांकि बच्चों की कुछ मुख्य विशेषताओं विशेषकर सत्ता के प्रति उनकी मनोवृत्ति, नीति-निर्मात्री संस्थाओं के प्रति आज्ञाकारिता एवं राजनीतिक विचारधाराओं, दलों को स्वरूपित करने में परिवार की व्यापक भूमिका होती है, जिनमें आगे चलकर परिवर्तन भी आ सकते हैं। जब बच्चा बड़ा होकर प्रौढ़ अवस्था में आता है तब समाज एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रति उसकी मनोवृत्ति राजनीतिक सामाजीकरण के अन्य अभिकर्ताओं के प्रभाव के कारण व्यापक रूप से बदल जाती हैं।

अभिजात तथा समकक्षी समूह : जहां पारिवारिक संबंध पदक्रम युक्त होता है, वही विकसित होते हुए बालक एवं समकक्षी समूह के सदस्यों के मध्य के संबंध अपने स्वरूप में पदक्रमरहित होते हैं। यही कारण है कि समकक्षी समूह राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समकक्षी समूह बचपन के खेल समूह, मित्र संगठनों, कार्यसमूहों एवं ऐसे ही अन्य समूहों से बनते हैं। इस अवस्था में राजनीतिक सामाजीकरण नए आयामों को ग्रहण करता है। समकक्षी समूह, व्यक्तियों को उद्भव होते राजनीतिक वातावरण का सामना करने एवं जरूरी हो तो विशिष्ट राजनीतिक भूमिकाओं के लिए तैयार करते हैं। समकक्षी समूह व्यक्तियों एवं समकक्षी समूहों के सदस्यों के मध्य आत्मीय भाव को विकसित करने में सहायता करते हैं। अत: इन्हें राजनीतिक सामाजीकरण के महत्त्वपूर्ण अभिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। परिवार की तुलना में राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ताओं के रूप में इन समकक्षी समूहों की भूमिका विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में अलग-अलग होती हैं। फ्रांस, बेल्जियम तथा जर्मनी जैसे देशों में परिवारों का किशोरवय बच्चों पर ज्यादा समय तक नियंत्रण रहा है जबकि ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवारों का अपने बच्चों पर कम नियंत्रण रहता है।

शैक्षिक संस्थाएं : विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय जैसी शैक्षणिक संस्थाएं राजनीतिक सामाजीकरण के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिकर्ता हैं। ये संस्थाएं राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह से सहभागी होती हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण, पाठ्यक्रम द्वारा भूमिका निर्वाह करता है। विद्यार्थियों को राष्ट्रीय आंदोलनों एवं राष्ट्रीय परंपराओं तथा कई बार विशिष्ट विचारधाराओं के बारे में जानकारी दी जाती है। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय के अनुभव अप्रकट राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में सहायता करते हैं। इस अवस्था में सहभागिता की रीतियों, मनोवृत्तियों एवं मूल्यों के स्वरूपण में सहायता प्रदान की जाती है। 1968 में फ्रांस का विद्यार्थी आंदोलन, वियतनाम युद्ध के प्रति अमेरिकी विद्यार्थी विरोध तथा 1960 के दशक के अंत में भारतीय विश्वविद्यालयों में नक्सलवादी आंदोलन की छाया राजनीतिक सामाजीकरण के कुछ उदाहरण हैं।

गौण समूह : गौण समूह समाज में राजनीतिक भूमिका के लिए प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। विकसित राजनीतिक व्यवस्था और गौण समूह तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम, वे गौण समूह जिनका संबंध विशिष्ट राजनीतिक अभिप्रेरणाओं से होता है, जैसे राजनीतिक दल एवं राजनीतिक युवा संगठन। ये समूह राजनीतिक विचारधारा में प्रशिक्षण और राजनीतिक क्रियाओं को गत्यात्मकता

प्रदान करते हैं, तथा राजनीतिक नेताओं की भर्ती करते हैं। द्वितीय प्रकार के वे गौण समूह होते हैं जो गैर-राजनीतिक उद्देश्यों के लिए बनाए जाते हैं। हालांकि ये समूह अपने विशिष्ट कार्यकलापों के साथ राजनीतिक शिक्षण का कार्य भी करते हैं। इस संदर्भ में विभिन्न श्रम संगठन उल्लेखनीय हैं। हालांकि एक श्रम संगठन मूलत: सामूहिक सौदेबाजी एवं अपने सदस्यों के कल्याण से जुड़ा होता है किंतु यह अपने सदस्यों को राजनीतिक शिक्षा और प्रशिक्षण भी प्रदान करते हैं। तीसरे प्रकार के गौण समूह न तो अपने सदस्यों को राजनीतिक शिक्षा देते है और न ही उनकी कोई राजनीतिक पहचान होती है। उनकी गतिविधियों में केवल सहभागिता ही राजनीतिक अभिमुखताएं प्रदान करती है, यह अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण का एक स्पष्ट उदाहरण है। इस संदर्भ में क्लब, खेल-कूद एवं सांस्कृतिक संघ ऐसी संस्थाएं हैं जिन्हें गौण समूहों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

जनसंचार : संचार एवं सूचना तकनीक ने राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ता के रूप में जनसंचार की भूमिका को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। जनसंचार जैसे रेडियो, टेलीविजन, अखबारों एवं पत्रिकाओं की भूमिका राजनीतिक व्यवस्थाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं के साथ भिन्न-भिन्न रूप में होती है। जनसंचार मूल्यों एवं विचारों की पारगम्यता में सहायक होता है जो प्रचलित संस्थापनाओं की निरंतरता में सहायता करते हैं। विकासशील देशों में जनसंचार का अधिकांशत: प्रयोग शासन अभिजन जनसामान्य को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए करता है।

सरकार एवं राजनीतिक दल : राजनीतिक दलों के सदस्यों तथा सरकारी सेवावर्गी लोगों के साथ व्यक्ति की निरंतर अंतर्क्रिया एवं कई बार सरकारी संगठनों के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध राजनीतिक मुद्दों एवं नीतियों के प्रति उसकी अभिमुखता एवं मनोवृत्तियों, जो उसने प्रारंभिक वर्षों में प्राप्त की है, को सुदृढ़ बनाने में सहायता करती है। कई बार सरकार राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में सीधे सहायता करती है। राजनीतिक दलों के द्वारा लोग समाज की राजनीतिक प्रक्रिया में सीधे शामिल होते हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से लोग राजनीतिक दृष्टि से समाजीकृत होते हैं एवं सिद्धांत बोध करते हैं। नागरिक समाज में केवल राजनीतिक दलों द्वारा ही क्रांतिकारी सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि एक राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकरणों के साथ गहन रूप से जुड़ी होती है। चूंकि राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया एक निरंतर प्रक्रिया है, अत: राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ताओं में असंगतता का होना स्वभाविक ही है।

राजनीतिक सहभागिता

राजनीति सहभागिता प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यांकन एवं विश्लेषण के लिए केंद्रीय महत्त्व का विषय है। राजनीतिक व्यवस्था का चाहे कोई भी प्रारूप हो राजनीतिक सत्ताएं हमेशा शासन संचालन की प्रक्रिया में जनसामान्य की राजनीतिक भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए हमेशा प्रयासरत रही हैं। यहां तक कि आधुनिक गैर-लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता के विचार पर सर्वाधिकारवादी शासक भी हमेशा जोर देते हैं। शासन संचालन की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक सहभागिता के विचार पर अधिक महत्त्व दिया जाता है। राजनीतिक सहभागिता की इस प्रक्रिया द्वारा सत्ताओं एवं लोगों के मध्य एक सन्निकटता विकसित होती है।

राजनीतिक सहभागिता के अध्ययन का अभिप्राय जनसाधारण का यथार्थता नीतिनिर्माण प्रक्रिया में सम्मिलित होने से है न कि सम्मिलित होने की लोकप्रिय मनोवृत्ति मात्र से है। यह लोक नीतियों के निर्माण व क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए समूहों या लोगों के द्वारा किए जाने वाले समस्त राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन करता है। यह उन लोगों के राजनीतिक सहभागिता के स्तर से संबध है जो अधिकांशत: सहभागिता में सम्मिलित होते हैं।

उदार लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सहभागिता के विभिन्न रूपों का होना एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। चुनाव में मतदान केवल एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें अधिकांश जनता सहभागी के रूप में कार्य करती है। सहभागिता के अन्य प्रकार भी हैं; जैसे हित समूह, चुनाव प्रचार, राजनीतिक दल एवं सरकारी गतिविधियां; किंतु इनमें वास्तव में कम लोग ही सहभागी हो पाते हैं। यह एक रुचिकर बात है कि सहभागिता की प्रक्रिया एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होती है। कुछ समाजों में यह ऐसी राजनीतिक गतिविधियों का रूप भी धारण कर लेती है, जैसे राजनीतिक प्रतिरोध जिसमें इसके गैर-कानूनी एवं हिंसक रूप भी सम्मिलित हैं। वास्तव में बहिष्कार एवं हड़ताल व्यवस्थाओं को प्रभावित करने के कुछ शक्तिशाली तरीकों के रूप में उभरी है। हालांकि अधिकांश देशों में हिंसा एवं सार्वजनिक संपत्ति को क्षति पहुंचाने की आलोचना की जाती है तथा इन गतिविधियों को गैर-कानूनी करार दिया जाता है क्योंकि इन गतिविधियों से संरचनात्मक. आधारों पर टिकी राजनीतिक व्यवस्था का ढांचा चरमरा सकता है। यही कारण है कि आतंकवादी हिंसा की विश्वव्यापी निंदा की जाती है।

कुछ राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राजनीतिक सहभागिता की चर्चा करते हुए 'श्रेणीबद्ध राजनीतिक संलग्नता' की अवधारणा पर बल दिया है - जैसे 'दर्शकों के क्रियाकलाप' (Spectator activities) और 'पूर्णत: सक्रीय क्रियाकलाप' (Gladiatorial activities)। दर्शकों के क्रियाकलाप उनके द्वारा मतदान किए जाने तक सीमित हैं। पूर्णत: सक्रिय क्रियाकलापों में सम्मिलित गतिविधियां राजनीतिक कोषों में अनुदान के लिए अनुनय विनय तथा सरकारी एवं दलीय पदों पर आसीन होने तक होती है। जबकि 'दर्शकों के क्रियाकलाप' केवल मतदान तक सीमित रहते हैं। किंतु जनसंख्या को पूर्णत: इन दो पृथक भागों में नहीं बांटा जा सकता। लोग विभिन्न तरीकों के द्वारा सहभागी बनते है। इनमें विरोध के लिए मतदान तथा जनप्रदर्शन जैसे परंपरागत साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में, पश्चिमी यूरोप एवं स्केन्डेनेवियन देशों के हाल के अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति एवं राजनीतिक गतिविधि के परंपरागत रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। लोग राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के अत्यधिक आलोचक हो गए हैं; तथा संभवत: इसीलिए वे निजी उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति हेतु राजनीतिक क्रिया के गैर-संस्थात्मक रूपों में अधिक रुचि लेने लगे है।

सूचना एवं संचार तकनीक में हुए नए विकासों ने भी सहभागिता की प्रवृत्ति को रूपांतरित कर दिया है। यही नहीं, कंप्यूटर युक्त सुविधाओं ने स्थानीय एवं राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर नागरिकों की राजनीतिक सहभागिता के नए रूपों को जन्म दिया है। आजकल लोग इलेक्ट्रॉनिक मशीनों के द्वारा मत डालते हैं जिसके फलस्वरूप कंप्यूटर तकनीक ने तीव्रता के साथ सरकार तक अपने मत या राय पहुंचाने में नागरिकों को सक्षम कर दिया है।

इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि हम सहभागिता के विभिन्न स्तरों को किस प्रकार से स्पष्ट करें। जनसाधारण में कुछ लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ज्यादा

सहभागी क्यों होते हैं? सहभागिता के अंतर को प्राय: आर्थिक एवं राजनीतिक स्रोतों तथा सहभागियों की रुचि के संदर्भ में स्पष्ट कर दिया जाता है। आर्थिक संसाधनों में संपत्ति को सम्मिलित किया जाता है जबकि राजनीतिक संसाधनों में शिक्षा एवं सूचना तक पहुंच जैसे कारकों को सम्मिलित किया जाता है। इन संसाधनों द्वारा व्यक्तियों में उन क्षमताओं को पैदा किया जाता है जिनका संबंध उनके अपने विचारों एवं रुचियों को अभिव्यक्त एवं विकसित करने से होता है, ताकि सत्ताधारियों तक उनकी आवाज पहुंच सके। वास्तव में जनसंख्या के इस भाग की सापेक्ष रूप से वंचित वर्ग की अपेक्षा राजनीतिक प्रक्रियाओं में अधिक भागीदारी होती है। व्यवस्था में ये लोग ज्यादा निहित हित प्राप्त करते हैं क्योंकि उनकी शिक्षा एवं स्रोत उनके हितों को प्राप्त करने में ज्यादा सशक्तता से सहायता कर सकते हैं। यही कारण है कि सामान्यत: यह माना जाता है कि लोकतंत्र मध्यम वर्ग या उच्च मध्यम वर्ग से संबंधित होता है। इसका एक कारण यह भी है कि राजनीतिक सहभागिता ने प्रचलित असमानताओं को अधिक सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

सहभागिता के प्रतिमान हम सभी को मौलिक रूप से प्रभावित करते हैं। मध्यम एवं उच्च वर्ग की सहभागिता इसलिए होती है, क्योंकि व्यवस्थाओं में उनका दाव लगा होता है। निम्न वर्ग को व्यापक आर्थिक सुविधाओं के नाम पर या अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो रोटी, कपड़े और मकान के नाम पर या इंदिरा गांधी के 'गरीबी हटाओ' जैसे नारों के नाम पर राजनीतिक सहभागिता के लिए तैयार किया जाता है। किंतु उदार लोकतंत्र की अंतत: सफलता व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी पर निर्भर करती है। जब लोक संसाधनों को मध्यम एवं उच्च वर्ग, निजी उपयोग के लिए प्रयोग करते हैं तो ऐसी व्यवस्था में प्रचलित आर्थिक असमानताएं और ज्यादा व्यापक होती हैं, तथा वहां राजनीतिक व्यवस्था के प्रति सामान्य नागरिकों की प्रतिबद्धता का स्तर कम अवश्य ही होता है। अमेरिका जैसे विकसित देशों की राजनीतिक संस्कृति हमारे यहां की राजनीतिक संस्कृति से इसी विशेषता के कारण भिन्न है। हम अभी तक सहभागिता की वह प्रक्रिया विकसित करने में सक्षम नहीं हो सके है, जिसमें प्रत्येक नागरिक यह महसूस करे कि व्यवस्था में बने रहना एवं उसकी निरंतरता में उसका अपना ही हित है।

सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी सहभागिता पाई जाती है, किंतु इसका स्वरूप उदार लोकतंत्रों से भिन्न होता है। चीन जैसे राज्यों में इसका प्रयोग सरकार को पदयुक्त करना नहीं, अपितु उसे समर्थन की अभिव्यक्ति के रूप में किया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में सहभागिता इस तरह से कार्य करती है कि मतदान के समर्थन द्वारा व्यापक जनसमूह संगठित किया जाता है। हालांकि शक्तियां केंद्रीय समितियों में ही निहित होती है, किंतु व्यवहार में नागरिकों को सभी स्थानीय सत्ताओं में सहभागिता की अनुमति प्रदान की जाती हैं। वास्तव में उन मामलों में श्रमिकों की निश्चित भागीदारी होती है, जो प्रत्यक्षत: उन्हें प्रभावित करती हैं। इसीलिए ऐसे कुछ देश सहकारी आंदोलनों को विकसित करने में सफल रहे हैं। यहां तक कि दलीय स्तर के सहभागियों में भी एक ओर कृषक एवं श्रमिक वर्ग है तो दूसरी ओर नौकरशाही एवं प्रबंधकीय वर्ग। चीन में विशेषकर प्रारंभिक पुरानी पीढ़ी ने अधिक शिक्षित एवं तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित नेतृत्व वाली नई पीढ़ी को मौका प्रदान किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उदार लोकतंत्रों की भांति यहां भी सहभागिता के क्षेत्र को व्यक्ति की शिक्षा एवं स्रोतों के साथ जोड़ा जाता है।

राजनीतिक विकास

राजनीतिक विकास शब्द राजनीति विज्ञान के शब्द कोश में 1950 के दशक में सम्मिलित हुआ। विदेशी प्रभुत्व से तृतीय विश्व के बहुत सारे देशों के उद्भव होने के साथ ही राजनीतिक वैज्ञानिकों में विकासशील देशों की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए व्यापक शैक्षणिक रुचि जाग्रत हुई। प्रमुख राजनीतिक वैज्ञानिक, गैब्रीयल ए. आमंड का कहना है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा का विकासशील देशों के संदर्भ में एक नैतिक एवं राजनीतिक अच्छाई के रूप में विश्लेषण एवं विवेचन करना चाहिए।

वास्तव में, 1950 के दशक के अंत में एवं 1960 के दशक के प्रारंभ में एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के नए राष्ट्रों की अंतर्राज्य व्यवस्था अध्ययनों पर संपूर्ण विश्व में बौद्धिक रुचि बनी रही। इन नव स्वतंत्र राष्ट्रों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं जनसांख्यिकी पक्षों पर बहुत सारे सांख्यिकीय एवं गुणात्मक आंकड़े एकत्रित किए गए हैं, ताकि इन देशों की अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं व्यवहार प्रतिमानों का विश्लेषण हो सके। राजनीतिक विकास के अवधारणात्मक ढांचों पर समाज वैज्ञानिकों में कोई सर्वसहमत धारणा नहीं पनप सकी है। समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, राजनीतिशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा का अपने-अपने दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। किंतु इन राजनीतिशास्त्रियों एवं समाज वैज्ञानिकों में से अधिकांश ने विकसित देशों, विशेषकर अमेरिका की विकास प्रक्रिया के प्रारूप पर बल दिया है। यह कहा गया कि यह एक ऐसा मॉडल है, जिसे विकासशील देशों को भी अपनी राजनीतिक विकास प्रक्रिया के लिए अपनाना चाहिए।

रोस्टॉव के अनुसार विकासशील देशों को अपने स्वयं विकास हेतु विकसित देशों के राजनीतिक व्यवहार के नियमों तथा संस्थात्मक संरचना को अपना लेना चाहिए। उसका कहना था कि 'औद्योगिक समाज अन्य समाजों के लिए राजनीतिक विकास के प्रारूप का निर्धारण करता है।' एडवर्ड शिल्स ने राजनीतिक विकास की अवधारणा को राष्ट्र-राज्य निर्माण प्रक्रिया के समीकृत माना है।

राजनीतिक विकास के अधिकांश विद्वानों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा को अमेरिकी विकास प्रक्रिया के अनुरूप देखा है। वे असंगत एकरूपता से सुसंगत विभिन्नता के अमेरिकी विकास के प्रतिमान को विकासशील देशों के राजनीतिक विकास के मॉडल के रूप में प्राय: उद्धृत करते हैं। ल्यूसियन डब्ल्यू. पाई, जिसे इस विषय का अधिकारिक विद्वान माना जाता है, ने राजनीतिक विकास का संबंध मुख्य तीन विषयों से जोड़ा है। ये विषय हैं : राजनीतिक जीवन में समानता, राजनीतिक क्षमता एवं सरकारी निष्पादन और संरचनाओं का विभिन्नीकरण एवं विशिष्टीकरण। पाई के अनुसार बढ़ता हुआ विभिन्नीकरण एवं विशिष्टीकरण समाज में व्यापक पंथनिरपेक्षीकरण को बढ़ावा देगा।

सैमुअल पी. हंटिंगटन ने पाई के विकास के नृजातीय मॉडल का एक सुधरा रूप प्रस्तुत किया है। उसका मानना है कि राजनीतिक स्थायित्व का अनुरक्षण राजनीतिक विकास के अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हंटिंगटन ने राजनीतिक विकास के मूल तत्त्वों के रूप में दो पक्षों पर जोर दिया है। ये हैं : राजनीतिक व्यवस्था में उच्च स्तरीय संस्थाकरण तथा लोकसहभागिता का बढ़ता हुआ स्तर। उसके अनुसार जहां एक ओर राज्य व्यवस्था में उच्च स्तरीय संस्थाकरण ही अनुकूलता, जटिलता, स्वायतत्ता एवं सुसंगतता को अच्छी तरह से अभिव्यक्त करता है। दूसरी ओर व्यवस्था, सामाजिक संरचनाओं के प्रत्येक स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में जनसहभागिता को स्थायित्व

प्रदान करता है। इस मान्यता के अनुसार व्यवस्था के भीतरी स्तरों में स्थायित्व को संस्थाकरण एवं सर्वस्वीकृत सहभागिता से उत्पादित पारस्परिक क्रिया के रूप में देखा जा सकता है।

इल्लिस जैसे अर्थशास्त्रियों का मानना है कि आर्थिक विकास राजनीतिक विकास की पूर्व शर्त है। कुछ लोगों ने राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण के समानार्थक माना है। कुछ अन्य लोगों ने इसे औद्योगिक समाज, प्रशासकीय एवं कानूनी विकास, लोकतंत्र का निर्माण, स्थायित्व एवं व्यवस्थात्मक परिवर्तन, शक्ति गत्यात्मकता और जनसहभागिता के प्रतीक के रूप में देखा है।

सामाजिक रूपांतरणों के विभिन्न चरणों में राजनीतिक विकास की अवधारणा में परिवर्तन आते रहे हैं। 1980 के दशक में औरगेन्सकी जैसे विद्वानों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा की व्यवस्थात्मक आनुभविक वैधता की प्रक्रिया पर जोर दिया हैं। उसने विकास को सामान्य हित के लिए राष्ट्र के मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के प्रयोग में बढ़ती हुई सरकारी कार्यदक्षता के रूप में परिभाषित किया है। उसने राजनीतिक विकास के मूल पक्ष के रूप में राष्ट्रीय राजनीतिक क्षमता की अवधारणा पर भी जोर दिया। राजनीतिक क्षमता की अवधारणा विकास के दो मूल पक्षों से संबंधित हैं। सरकार द्वारा चयनित नीतियों के क्रियान्वयन हेतु राजस्व एकत्र करने की क्षमता, तथा मानवीय स्रोतों को गतिशीलता प्रदान करने की क्षमता।

1990 के दशक में रॉबर्ट डब्ल्यू. जैकमैन जैसे विद्वानों ने राजनीतिक विकास का तात्पर्य वैधानिक राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण के लिए व्यवस्थात्मक क्षमता माना। वैधता संरचना एवं शक्ति संबंधों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है। वैधता, राजनीतिक विरोध पर शक्ति प्रयोग किए बिना भी संघर्षों के समाधान में सहायक होती है।

राजनीतिक विकास की अवधारणा में यह जानना जरूरी है कि राजनीतिक विकास में किसी भी सार्वभौम रणनीति को अपनाना विकासशील देशों के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हो सकता है क्योंकि यह जनमानस में ऐसे भ्रम उत्पन्न कर सकता है जिसका उनके देश के सामाजिक, आर्थिक ढांचें एवं परिस्थितियों से कोई संबंध न हों। इसका तात्पर्य यह नही है कि बाहरी मॉडल सदैव अप्रासंगिक होते हैं।

विकास की प्रक्रिया को लोगों की रुचि से अलग नही किया जा सकता। भारत के राजनीतिक विकास प्रक्रिया में इस पक्ष को ध्यान रखने में चूक हुई है। मार्क्स के "स्वतंत्रता का साम्राज्य (Kingdom of Freedom) को जीतने पर जोर देने का कई विकासशील देशों की नीतियों एवं कार्यक्रमों पर व्यापक प्रभाव है। मॉओ ने 1940 में ही यह घोषित कर दिया था कि मार्क्सवाद को सफल बनाने के लिए इसे राष्ट्र विशेष के लक्षणों के साथ जोड़कर एक निश्चित राष्ट्रीयता का स्वरूप प्रदान करना होगा।

विकास के एक दिशा वाले मॉडलों के समर्थकों को यह महसूस करना होगा कि जीवन विभिन्नताओं की समृद्धता में ही विकसित होता है। विकासशील देशों को अपने-अपने ऐतिहासिक पहलुओं को विशिष्ट विशेषताओं से जोड़कर क्रमशः राजनीतिक विकास कार्यक्रमों से संलग्न करना होगा।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि निम्नलिखित तीन तत्त्वों के संदर्भ में राजनीतिक विकास का एक अधिक संतोषजनक अभिमत प्रतिपादित किया जा सकता है। सर्वप्रथम तो राजनीतिक विकास की किसी भी अवधारणा को आर्थिक पिछड़ेपन एवं निर्भरता की समस्याओं से अपना संबंध जोड़ना होगा। प्रत्येक व्यवस्था का मूल्यांकन इस तथ्य पर आधारित होना चाहिए कि क्या वह व्यवस्था अपने नागरिकों को न्याय, समानता और उर्वरता दिलाने में सक्षम है ? द्वितीयतः किसी भी

सिद्धांत को व्यवस्था के आनुभविक एवं नियमक व्यवहार के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहिए जो अच्छे समाज में सही आधार पर बल देता हो। व्यक्ति एवं समाज के मध्य आदर्श संबंध के संस्थापित आधार को पुनः सक्रिय किया जाना चाहिए। अंत में, राजनीतिक विकास की अवधारणा से संबंधित राजनीतिक व्यवस्था को पूर्ण निरपेक्ष स्थितियों के संदर्भ में जांचना चाहिए। राजनीतिक विकास अलगावयुक्त तथ्य नहीं है। इसीलिए सभी पश्चिमी आदर्शों को तृतीय विश्व के विकासशील देशों की सामाजिक-आर्थिक यथार्थताओं के साथ संबद्ध करना आवश्यक है।

अभ्यास

1. राजनीतिक सामाजीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न कारकों के योगदान का वर्णन कीजिए।
3. राजनीतिक सहभागिता के अर्थ और उसके महत्त्व का विश्लेषण कीजिए।
4. राजनीतिक विकास की व्याख्या कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) गौण समूह (पियर ग्रुप)
   (ख) जनसंचार
   (ग) ल्यूसियन डब्ल्यू. पाई की राजनीतिक विकास संबंधी धारणा

अध्याय 11

प्रतिनिधित्व की पद्धतियां

समसामयिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोकतंत्र को उदारवाद के साथ परिभाषित किया जाता है, किंतु 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों में ऐसा नहीं था। तब संस्थापित उदारवाद (Classical Liberalism) का संबंध उस पूंजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था से था, जिसने व्यक्ति द्वारा असीमित संपत्ति को अर्जित करने के अधिकार पर बल दिया था। तब संपत्ति की योग्यता को राजनीतिक प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया में सहभागिता हेतु एक आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता था। तदुपरांत ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप संस्थापित उदारवाद की, जिसे कि प्रारंभिक संस्थापित अवस्था में लोकतांत्रिक मूल्यों एवं प्रक्रियाओं के मूलत: विपरीत माना जाता था, उसे अब लोकतंत्र के आवश्यक साझेदार के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। पूंजीवाद एवं बाजार अर्थव्यवस्था ने बड़े पैमाने में औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। राजनीतिक व्यवस्था की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में सहभागिता हेतु श्रमिक वर्ग आंदोलन की मांग ने लोकतंत्र की अवधारणा को नई गति प्रदान की है एवं उसके क्षितिज को व्यापक बनाया है। इस प्रकार उदारवादी राज्य, स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था और सर्वव्यापक वयस्क मताधिकार के सिद्धांतों का संयुक्तीकरण हो गया है। सी.बी. मेकफरसन के मतानुसार, "उदारवादी राज्य की भांति उदारवादी सिद्धांत 19वीं शताब्दी तक किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं था। अधिकांशत: वह प्रत्यक्ष लोकतंत्र विरोधी था।"

आज लोकतंत्र शब्द को प्रतिनिधिक लोकतंत्र के समकक्ष समझा जाता है। प्रतिनिधिक लोकतंत्र में लोगों को सार्वभौम वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के आधार पर सामयिक निर्वाचन के द्वारा अपने प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार प्राप्त होता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत जाति, पंथ, धर्म, भाषा एवं संस्कृति के आधार पर होने वाले भेदभाव को सामान्यत: प्रतिबंधित कर दिया जाता है। समय-समय पर होने वाले सामान्य चुनाव में सहभागिता हेतु निर्धारित आयु विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होती है। भारत में आम चुनाव में भाग लेने की निर्धारित आयु 18 वर्ष है, जबकि ब्रिटेन एवं कुछ अन्य देशों में यह 21 वर्ष है। कुछ देशों में सामान्य निर्वाचन के दौरान नागरिकों को मतदान में सहभागिता हेतु कानून द्वारा बाध्य किया जाता है। ये देश हैं : नेदरलैंड्स (1917) तथा बेल्जियम (1893)।

प्रतिनिधित्व की दो वैकल्पिक व्यवस्थाएं होती हैं:

- क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व, एवं
- कार्यात्मक प्रतिनिधित्व।

क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को भौगोलिक प्रतिनिधित्व के रूप में भी जाना जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत संपूर्ण देश को लगभग समान जनसंख्या आधारित

क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। कार्यात्मक प्रतिनिधित्व में पेशे या कार्यों के प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है। लोगों का विभिन्न पेशों तथा कार्यों से संबंध होता है। अतः यहां इन्हीं के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है। यद्यपि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व व्यवस्था में लोगों का अपने प्रतिनिधियों के साथ निकट का संबंध संभव हो जाता है, किंतु कई बार इस व्यवस्था में राष्ट्रीय मुद्दों के स्थान पर स्थानीय मुद्दों को महत्त्व दे दिया जाता है।

जब किसी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व एक प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है तो उसे एक-सदस्यीय चुनाव क्षेत्र कहा जाता है। इसके विपरीत जब चुनाव क्षेत्रों का एक से अधिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है तो वह बहु-सदस्यीय चुनाव क्षेत्र कहलाता है। स्वतंत्रता से पहले भारत में अल्पसंख्यकों एवं विशिष्ट हितसमूहों हेतु पृथक निर्वाचन क्षेत्र होते थे।

प्रोफेसर शेपर्ड के अनुसार प्रतिनिधित्व के तीन प्रमुख सिद्धांत हैं : प्रारंभिक आदिवासी सिद्धांत, सामंतवादी सिद्धांत एवं नैतिक सिद्धांत। ग्रीक नगर-राज्यों के समय जो राजनीतिक व्यवहार प्रचलन में था, उसे प्रतिनिधित्व के आदिवासी सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत मत के अधिकार को राज्य की सदस्यता के लिए आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता था। सामंतवादी सिद्धांत राज्य में मताधिकार के लिए संपत्ति की शर्त पर जोर देता है। नैतिक सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि मताधिकार प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक एवं अंतः निहित अधिकार है।

प्रतिनिधित्व के सिद्धांत

निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में प्रतिनिधियों की भूमिका के बारे में भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। कुछ लोग जहां प्रतिनिधियों के लिए सीमित भूमिका का पक्ष लेते हैं वहीं अन्य नीति-निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया पर उनके नियंत्रण का समर्थन करते हैं। प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांत इस मुद्दे का विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं।

प्रतिनिधित्व का सत्तावादी सिद्धांत

थामस हॉब्स एवं अलेक्जेन्डर हेमिल्टन इस सिद्धांत के मुख्य प्रतिपादक थे। यह सिद्धांत व्यवस्था एवं सत्ता की भूमिका (जिसका प्रतिनिधित्व कार्यकारणी करती है), पर बल देता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत लोगों के प्रतिनिधियों की भूमिका बहुत सीमित ही रहती है। यह सिद्धांत राजनीतिक नेताओं के श्रेष्ठ ज्ञान और बुद्धिमत्ता पर जोर देता है। इन पर लोक नियंत्रण का कोई प्रावधान नहीं होता। हाब्स ने विशेषतया राजा की सत्ता का समर्थन किया।

हाब्स के मतानुसार आनुमानिक सामाजिक समझौते के अंतर्गत लोगों ने आपस में समझौते के अनुसार अपनी शासन करने की शक्ति किसी व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति समूह (राजा/संसद) को सौंपी ताकि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुरक्षित हो सके। इस प्रकार संप्रभु/सरकार की स्थापना लोकतांत्रिक पद्धति से हो जाती है, क्योंकि राज्य का निर्माण करने वाले लोगों ने इसके लिए अपनी सहमति प्रकट की है। लेकिन सत्ता प्राप्ति के बाद सत्ताधारी सरकार सर्वशक्तिमान हो जाती है।

प्रतिनिधित्व का उग्रवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत के मुख्य समर्थक रूसो एवं नव वामपंथ के प्रस्तावक रहे हैं। यह सिद्धांत प्रतिनिध्यात्मक सरकार की व्यवस्था में विश्वास नहीं करता। यह शासन संचालन की प्रक्रिया में लोगों की प्रत्यक्ष सहभागिता में विश्वास करता है। विधि-निर्माण प्रक्रिया में जनता

द्वारा प्रत्यक्ष भागेदारी को प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष लोकतंत्र में नागरिक निर्णय-निर्माण में स्वयं भाग लेते हैं न कि उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि, किंतु इस प्रकार की प्रत्यक्ष सहभागिता केवल छोटे प्रदेशों में ही संभव है। प्राचीन काल में यह एथेन्स के नगर-राज्य में पाई जाती थी। आज भी स्विट्जरलैंड में 'जनमत संग्रह' (Plebiscite) एवं 'वापस बुलाने' (Recall) की प्रक्रिया पाई जाती है।

प्रतिनिधित्व का प्रतिरूप सिद्धांत

जान लॉक एवं थामस जैफरसन इसके मुख्य प्रतिपादक है। यह सिद्धांत इस विचार पर जोर देता है कि विधायिकाओं को समाज का प्रतिबिंब होना चाहिए। प्रतिनिधियों को जनता के अभिकर्ताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है एवं वे अपने क्षेत्र की मांगों को नीति संरचनाओं में बदलते हैं। इस सिद्धांत का जनसामान्य की बुद्धिमत्ता में गहरा विश्वास है। यह समानता के सिद्धांत पर आधारित थी।

प्रतिनिधित्व का अभिजनवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत की मान्यता है कि प्रतिनिधि ज्यों ही निर्वाचित होता है, जनसामान्य को नेतृत्व प्रदान करने का उसका विशिष्ट उत्तरदायित्व हो जाता है। वे केवल मतदाताओं द्वारा प्रदान किए गए निवेशों तक ही अपने कार्य को सीमित नहीं रखते, बल्कि वे परिवर्तन के अभिकर्ताओं के रूप में यह भी निर्णय लेते हैं कि समाज के लिए सर्वोत्तम क्या है। इस सिद्धांत के विरोध में यह आरोप लगाया जाता है कि यह सिद्धांत इस अर्थ में अलोकतांत्रिक है कि यह राजनीतिक अभिजन वर्ग के राजनेताओं की बुद्धिमत्ता में विश्वास करता है। यह इस वर्ग को लोकहित का संरक्षक स्वीकार करता है। प्रतिनिधित्व का रूढ़िवादी सिद्धांत शासन संचालन की प्रक्रिया में लोकप्रिय सहभागिता को बढ़ावा नहीं देता। किंतु ऐसे समाज जिसमें निरक्षरता एवं गरीबी पाई जाती है तथा जहां लोग इस स्थिति में नहीं हैं कि वे जटिल मुद्दों को समझ सकें, वहां प्रतिनिधियों को संकीर्ण मतांधवादी हितों से ऊपर उठना चाहिए एवं संपूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमारे जैसे देश के लिए, जहां भाषा, धर्म, जाति, वर्ग, आदि की भिन्नता है, वहां विशेषतया महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

प्रतिनिधि, निहित स्वार्थों एवं मतांधवादी हितों के कैदी न बन जाएं, इसलिए जरूरी है कि उन्हें विभिन्न विशिष्टताओं से ऊपर उठने में सक्षम होना चाहिए तथा एक पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में विषयों के प्रति एक समग्रता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। समसामयिक निर्णय प्रक्रिया एवं शासन संचालन का प्रारूप इतना जटिल है कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र में सामान्य लोगों की सहभागिता संभव नहीं हो पाती। आज प्रतिनिधित्व करना बहुत ही जटिल कार्य हो गया है। एक तरफ उसे जिन लोगों का वह प्रतिनिधि है उनकी इच्छाओं को पूरा करना पड़ता है, तो दूसरी तरफ उसका दायित्व समाज के संपूर्ण हितों की अनुरूपता के साथ इन इच्छाओं को आकार देने का भी हो जाता है।

सही प्रतिनिधित्व प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सफलता का केंद्र बिंदु है। लोकतंत्र की शास्त्रीय परिभाषा लोकतंत्र को जनता *का*, जनता *द्वारा* और जनता के *लिए* शासन समझती है। यदि ऐसा है तो, हम सभी लोगों को शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए सजग रहना होगा। यह आवश्यकता जनता के उचित एवं राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की कामना करती है, और यह कामना शिक्षित नागरिकों एवं चैतन्य जनमत की मांग करती है। इसलिए कहा जाता है कि लोकतंत्र शासन का एक तरीका मात्र ही नहीं, अपितु एक जीवनपद्धति भी है।

अभ्यास

1. प्रतिनिधित्व के भिन्न-भिन्न सिद्धांत कौन-कौन से हैं?
2. प्रतिनिधित्व की दो वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उल्लेख कीजिए।
3. लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रतिनिधित्व के महत्त्व का वर्णन कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
   (क) कार्यात्मक प्रतिनिधित्व
   (ख) प्रत्यक्ष लोकतंत्र
   (ग) प्रतिनिधित्व का अभिजनवादी सिद्धांत

इकाई चार
प्रमुख
राजनीतिक
सिद्धांत
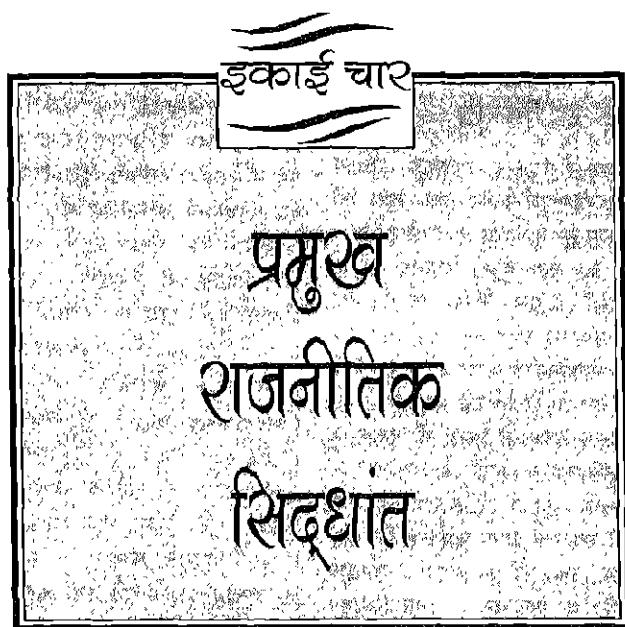
उदय एवं विकास

उदारवाद एक सिद्धांत है जिसका अभ्युदय यूरोप में ज्ञानोदय, इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति तथा फ्रांस की क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ। इन घटनाओं से उदारवाद की मूल मान्यताओं का जन्म हुआ। ज्ञानोदय से यह विचार उभरा कि कोई भी ऐसा नैतिक उद्देश्य नहीं होता जिसे हम पूर्ण रूप से सही मान सकें और इस कारण किसी राज्य के नागरिकों पर कोई एक जीवन-शैली आरोपित करना अनुचित है। इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति ने इस मान्यता को जन्म दिया कि किसी भी प्रकार के शासन तंत्र में दैवी अधिकार का कोई औचित्य नहीं है। इसी क्रम में फ्रांस की क्रांति ने इस धारणा को जन्म दिया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी पावन है कि कोई भी सत्ता उसकी अवहेलना नहीं कर सकती। उदारवाद ऐसी राजतंत्रीय शक्ति के प्रत्युत्तर में जन्मा जिसका यह दावा था कि दैवी अधिकारों के आधार पर राजा की शक्ति निरंकुश होती है। इंग्लैंड में संपन्न वर्ग की प्रतिक्रिया राजा की उस शक्ति के विरूद्ध थी जिसके द्वारा वह बिना संसद की सहमति के प्रजा पर कर लगा सकता था। फ्रांस में भी उदारवाद राजतंत्र के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रकट हुआ, क्योंकि वहां राजा ने राजनीतिक प्रसंगों पर चर्चा तथा बहस रोकने की चेष्टा की थी। फ्रांसीसी मध्यम वर्ग ने अपनी आकांक्षाओं को "स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व" की विश्वप्रसिद्ध उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया था। फ्रांसीसी मध्यम वर्ग में मुख्यतः व्यापारी, दुकानदार, बैंकर, बुद्धिजीवी एवं व्यवसायी सम्मिलित थे।

ये वर्ग उस सामंती अव्यवस्था और अराजकता का अंत चाहते थे जिसमें संभ्रान्त वर्ग के लोग लगातार एक-दूसरे से संघर्षरत थे। ये वर्ग पूंजी के संचय में अधिक रुचि रखते थे। सामाजिक अराजकता इनके लिए अनुकूल नहीं थी। वाणिज्यवाद (Mercantelism) के स्थान पर वे अहस्तक्षेप (Laissez Faire) के सिद्धांत पर आधारित मुक्त-व्यापार की आर्थिक व्यवस्था चाहते थे। ये वर्ग व्यापार, पूंजी-निवेश तथा व्यापारिक-वृद्धि के क्षेत्रों में पुराने हो चले आर्थिक नियंत्रण का भी अंत चाहते थे। उन्होंने बुर्जुआ वर्ग तथा कुलीनतंत्र में अंतर करने वाले वंशानुगत विशेषाधिकारों के अंत की भी पैरवी की। वे संसद की सर्वोच्चता चाहते थे। मॉन्टेस्क्यू की पुस्तक *दि स्पिरिट ऑफ लॉज*, बेन्थम की *फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट* तथा एडम स्मिथ की *वेल्थ ऑफ नेशन्स* उदारवाद के क्रमिक विकास की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अवस्थाओं का बोध कराती है।

उदारवादियों का तर्क था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निर्णय लेने वाला एक विवेकशील नागरिक है। अच्छा समाज वह है जो नागरिकों के हितों का अधिकतम

संवर्द्धन करता है। उन्होंने समाज को केवल ऐसे व्यक्तियों के समूह के रूप में निरूपित किया जिन्हें केवल अपने हितों की चिंता थी और जो इस उद्देश्य प्राप्ति हेतु शक्ति चाहते थे। उनकी दृष्टि में समाज में रहने वाले व्यक्तियों के कल्याण के अतिरिक्त और कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं था। उनके विचार में सामाजिक कल्याण, सामूहिक कल्याण अथवा लोक-कल्याण जैसी मान्यताएं निरर्थक थीं। यदि समाज में कुछ था तो वह केवल व्यक्यिों का ऐसा समूह जिसमें हर किसी के निजी हित व्याप्त थे।

उत्पादन वृद्धि और बाज़ार तंत्र के माध्यम से ऐसे ही हितों को प्रोत्साहित किया गया। ये प्रयास व्यक्तिगत उद्यम तथा संपत्ति के असीमित अधिकार के विचारों पर आधारित थे। इनमें खुली प्रतियोगिता का प्रावधान था। प्रतियोगिता ही उत्पादनकर्ताओं, खरीददारों तथा उपभोक्ताओं के रूप में मानव संबंधों का निर्धारण करती थी। इसी से उत्पादन की प्रकृति तथा उत्पादित माल का मूल्य भी निर्धारित होता था। सभी आदर्शों के लिए बाजार प्रक्रिया ही प्रमुख प्रेरणा स्रोत थी। व्यक्ति अपने निजी हितों के आधार पर ही आवश्यक निर्णय लेता था। उदारवादियों का यह तर्क था कि यदि व्यक्तियों को उनके विवेकसम्मत हितों को पूरा करने की छूट दी जाए तो उस स्थिति में समाज में संतुलन बना रहेगा। उस स्थिति में वस्तुओं की क़ीमत का निर्धारण इस आधार पर होगा कि 'जो उत्पादित हुआ है उसे खरीददार खरीदने के लिए प्रेरित हो और उत्पादक वही उत्पादित करे जो खरीदा जा सके।' एडम स्मिथ के 'अदृश्य हाथ' की अवधारणा में यही मूल भाव व्यक्त किए गए हैं। इसका यह अभिप्राय था कि सामान्य कल्याण वास्तव में व्यक्ति की मूल अधिग्रहणकारी प्रवृत्ति के कारण से ही होता है। समाज का हर सदस्य वैयक्तिक रूप से जितना समृद्ध होता है ठीक उसी के अनुपात में राज्य भी समृद्ध होता है। इस विचार के परिणामस्वरूप समाज में विविध और परस्परविरोधी हितों में स्वतः ही सामंजस्य स्थापित हो गया था। उदारवादी विचार-योजना में व्यक्ति को उसके "स्वयं के रूप में ही" स्वतंत्र माना गया। राजनीति को स्वायत्त माना गया। यह माना गया कि राजनीति में संकीर्ण निहित स्वार्थों से ऊपर उठने की क्षमता विद्यमान है। समाज में मानव संबंधों के नियमन के लिए किसी केंद्रीय संगठन की आवश्यकता पर बल दिया गया। राज्य ऐसे ही संगठन का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने अपनी हित-पूर्ति के उद्देश्य से की थी। उदारवादियों के अनुसार राज्य को कम से कम कार्य करने चाहिए। उनके विचार में सरकार का कार्य केवल परस्पर विरोधी हितों को समन्वित करना ही था। अपने इस रूप में सरकार को एक आवश्यक बुराई माना गया। इसी कारण जैसा ब्रेन्थम ने कहा कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है। उदारवादियों के अनुसार सरकार का मूल कार्य व्यक्ति के निजी संपत्ति विषयक प्राकृतिक अधिकार की सुरक्षा करना था। जॉन लॉक ने इस विचार को अभिव्यक्त किया। यदि सरकार यह सुरक्षा न दे सके तो उसके अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं है। निजी हितों ने अपनेआप को प्रतिस्पर्धात्मक लोकतंत्र की संस्थात्मक व्यवस्थाओं द्वारा आगे बढ़ाना चाहा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वतंत्रता के सिद्धांत को, समानता के सिद्धांत से जोड़ा गया। स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के मूल भाव फ्रांस की राज्यक्रांति में समाहित थे। स्वतंत्रता की अमेरिकी घोषणा में भी यही विचार निहित थे, परंतु ये उदारवादी व्यक्तियों में व्याप्त महत्त्वपूर्ण अंतरों के विषय में सचेत थे। उनका अभिप्राय यह था कि व्यक्तियों को उनकी महत्ता सिद्ध करने के लिए समान अवसर दिए जाएं। उन्होंने जन्म अथवा वंशानुगत आधार पर

कुलीनतंत्रीय दावे का प्रतिकार किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि समानता से संबंधित उदारवादियों का दावा केवल राजनीतिक दावा ही था। उनका आर्थिक समानता में कोई विश्वास नहीं था। उदारवादियों में से कुछ वस्तुत: यह मानते थे कि आर्थिक असमानता न केवल अपरिहार्य है बल्कि वह सभी संबंधित व्यक्तियों के लिए एक सकारात्मक गुण भी है।

द्वितीय चरण में, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा थॉमस हिल ग्रीन जैसे विचारकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उदारवादी सिद्धांत में सुधार किए। उनका यह विश्वास था कि व्यक्तियों के हित सामाजिक हितों से जुड़े हुए हैं। उन्होंने व्यक्ति के हित को सामान्य हित की भावना के साथ जोड़ दिया। ग्रीन ने ऐसे लोगों के अस्तित्व को स्वीकार किया जिन्हें उतनी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी जितनी प्राचीनकाल में दासों को प्राप्त थी। इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि एक ओर जहां अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे थे वहीं दूसरी ओर गरीब उसी अनुपात में अधिक गरीब होते जा रहे थे। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप एकाधिकारी प्रवृत्तियां पनपने लगी थीं। आर्थिक जीवन पर ऐसे थोड़े-से लोगों का नियंत्रण स्थापित होने लगा जो आर्थिक दृष्टि से समर्थ थे।

मिल तथा ग्रीन दोनों ने, तथा हमारे देश के महादेव गोबिंद रानाडे ने यह अनुभव किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि उसे समान अवसर प्राप्त हों। ये सभी विचारक व्यक्ति और समाज के महत्त्व को निश्चित नहीं कर पा रहे थे। ग्रीन ने इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता व उसकी संतुष्टि केवल समाज के माध्यम से ही संभव है। उसके अनुसार, "समाज व्यक्ति की नैतिक मुक्ति का कार्य विविध सामाजिक एजेंसियों के माध्यम से निरंतर संपादित कर रहा है।" इन उदारवादियों की यह भी मान्यता थी कि वितरण की समस्याओं के निराकरण की यह मांग है कि राज्य समाज के आर्थिक जीवन में सक्रिय हस्तक्षेप करें। राज्य को 'समुदायों का समुदाय' माना गया और यह अपेक्षा की गई कि वह समाज में सफाई व स्वास्थ्य के मानकों को लागू करे। यह भी अपेक्षा की गई कि वह सुनिश्चित करे कि मानवता का बड़ा भाग गरीबी व गंदगी की दुर्दशा में न रहे। राज्य से ऐसी परिस्थितियां बनाने की अपेक्षा की गई जिसमें सभी का समान विकास संभव हो सके। रानाडे इस विचार के समर्थक थे कि सभी को अवसर की समानता तथा पूर्ण रोजगार उपलब्ध कराते हुए राज्य को समाज में संपत्ति का पुनर्वितरण अवश्य करना चाहिए।

उदारवाद के इस नए रूप ने इस बात पर ठीक ही बल दिया कि सामाजिक अनुभव से व्यक्ति को जब कभी भी निराशा हो, उसे यह अपेक्षा करने का अधिकार है कि राज्य इन स्थितियों से उसका बचाव करेगा। समाज को केवल संपत्ति की वृद्धि के लिए ही नहीं अपितु मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास हेतु अवसर प्रदान करने चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा ऐसे ही चिंतन का परिणाम है। 1930 के दशक में अमेरिकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने इन्हीं आधारों पर अपना 'न्यू डील कार्यक्रम' प्रस्तुत किया था। सरकारों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे मध्यम वर्ग के संपत्ति के स्वामित्व के प्रभाव का अंत करेंगी और वैयक्तिक अवसरों में अधिकतम वृद्धि करेंगी। आर्थिक कार्यक्षमता की गारंटी के रूप में मुक्त बाजार की धारणा को उन्होंने ठुकरा दिया। समान प्रतियोगिता की किसी व्यवस्था में 'अदृश्य हाथ' का महत्त्व हो सकता है, परंतु गंभीर विषमताओं वाली आर्थिक व्यवस्था में इसका कोई औचित्य नहीं है। चंद व्यापारिक घरानों के निर्णयों ने सभी व्यक्तियों के जीवन ढांचे को प्रभावित किया।

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य ने शिक्षा को व्यापक स्तर पर उपलब्ध कराने का प्रयास किया। उसने श्रम की कार्यावधि, मजदूरी तथा श्रम की स्थितियों आदि को नियमित करने, कारखानों में बच्चों को मजदूरी पर लगाने तथा अर्थव्यवस्था में व्याप्त एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया। यह माना गया कि सभी व्यक्तियों की राजनीतिक व नागरिक स्वतंत्रता के समुचित उपभोग के लिए आर्थिक स्वतंत्रता का विस्तार आवश्यक है। न्याय संबंधी अवधारणा में भी परिवर्तन हुआ। जॉन रॉल्स ने न्याय के विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है : ''राज्य को लाभ व बोझ की व्यवस्था इस ढंग से करनी होगी जिससे सबसे कम लाभ प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी भाग्यशालियों के साधनों में हिस्सा प्राप्त कर सके।'' आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में जॉन् मेनार्ड कीन्स तथा सामाजिक बीमे से संबंधित लॉर्ड बेवेरिज रिपोर्ट द्वारा क्रांति आई। इसमें सामाजिक बीमे को सामाजिक प्रगति की व्यापक नीति का एक भाग माना गया था। यह अभावों पर एक आक्रमण था। लॉर्ड बेवेरिज का यह तर्क था कि सुरक्षा संयोजित करते हुए राज्य को प्रोत्साहन व अवसर कम नहीं करने चाहिए। यद्यपि राज्य को सभी के लिए न्यूनतम संसाधन उपलब्ध कराने चाहिए, तथापि उसे स्वैच्छिक क्रियाओं के लिए पर्याप्त गुंजाइश भी रखनी चाहिए। भारत में महालेनोबिस रिपोर्ट भी प्रायः इसी नीति पर आधारित थी। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाने में थोड़े-थोड़े अनिश्चित व तदर्थ प्रयासों ने अपना आकर्षण खो दिया था। लोग अधिक व्यापक योजनाओं का समर्थन करने लगे थे। उनकी राज्य से यह अपेक्षा थी कि वह पूर्ण रोजगार तथा सुनियोजित आर्थिक वृद्धि के लिए कार्य करें जिसे रूजवेल्ट ने 'अभाव से मुक्ति' और इंदिरा गांधी ने 'गरीबी हटाओं' की संज्ञा दी। राज्य ने इस प्रकार सामाजिक व सांस्कृतिक कमियों को दूर करने का प्रयास किया। अतः मानव समानता, स्वतंत्रता व न्याय के आदर्शों के विकास की पराकाष्ठा लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श है।

उदारवाद में अंतर्विरोध

उदारवाद में एक मूलभूत तनाव है। एक ओर तो वह समाज की बाजार संबंधी अवधारणा, संपत्ति के अधिग्रहण के असीमित अधिकार और अंततः असमानता के विचार के साथ जुड़ा हुआ है। दूसरी ओर वह सामान्य हित एवं सभी को समान अवसर उपलब्ध कराने के उद्देश्य से संपत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहता है। अनेक समकालीन विचारकों ने इस दावे को चुनौती दी है कि बाज़ारोन्मुख समाज उपयोगिताओं को बढ़ाता है। इसके विपरीत मैकफरसन का यह तर्क है कि व्यक्ति का सच्चा विकास उसकी स्वयं की शक्तियों के विकास में ही निहित है। उसके अनुसार प्रारंभिक उदारवाद दो आधारों पर परस्पर विरोधाभासी प्रतीत होता है। व्यक्ति के संबंध में इन दो दृष्टिकोणों के बीच परस्पर स्पष्ट तनाव है कि वह 'उपयोगिताओं का आकांक्षी है' तथा 'वह अपनी शक्तियों का उपभोग करने व विकास करने वाला है'। इसने एक ओर तो संपत्ति के असीमित अधिकार, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा अंततः असमानता के दृष्टिकोण और दूसरी ओर समतावादी दृष्टिकोण के बीच एक भ्रम उत्पन्न किया है। अब तक इन दोनों को परस्पर समन्वित नहीं किया जा सका है। लोक-कल्याणकारी राज्य की त्रासदी यह है कि यद्यपि सिद्धांततः उसका इस आदर्श में विश्वास है कि राज्य को न केवल संपत्ति बढ़ाने के अवसर उपलब्ध कराने चाहिए बल्कि संपूर्ण मानव व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा भी करनी चाहिए, परंतु व्यवहार में वह 'उपयोगिताओं के अधिकतम संवर्धन तथा लाभ को

ही अंतिम सत्य मानता है। उसकी एक प्रमुख विसंगति यह है कि वह सामाजिक संरचना को किसी बुनियादी आधार पर नहीं बदल पाता। राज्य आर्थिक सहायता देता है और प्रतियोगिता, एकाधिकार, भूमि के उपयोग व श्रम को नियंत्रित करता है, परंतु अभी भी समाज के आर्थिक रूप से समर्थ कुछ लोगों के सोचे-समझे निर्णयों के प्रत्युत्तर में ही कीमतें निर्धारित होती हैं। अभी भी कीमतों से ही वस्तुओं का उत्पादन तय होता है। वे ही उसका आबंटन भी निर्धारित करती हैं। इसके कारण बड़े निगम मूल्यों का निर्धारण कर पाने में सक्षम होते है तथा हमारी अभिरुचियों व जीवनशैली को भी नियंत्रित करते हैं।

सामाजिक जीवन एक ऐसी सावयविक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के जीवन को बाहरी दुनिया का आनंद लेने की क्षमता में वृद्धि कर, संवर्धित करना है। एक उदारवादी समाज उपयोगिता का तो संवर्धन करता है परंतु वह हमारी शक्तियों को संवर्धित नहीं कर पाता अथवा वह हमको एक श्रेष्ठ इंसान नहीं बना पाता। बाजार की शक्तियां हम पर लगातार हावी रहती हैं। सार्वजनिक स्वामित्व व राष्ट्रीयकरण जैसे उपायों के परिणामस्वरूप नौकरशाही का प्रभाव बढ़ा है तथा सामाजिक जीवन में भ्रष्टाचार फैला है।

आनुभविक उदारवाद

आनुभविक उदारवाद की संक्षिप्त चर्चा यहां प्रासंगिक होगी। मिल व ग्रीन ने लोकतंत्र के नैतिक पक्ष पर बल दिया था। उनकी दृष्टि में नैतिक पक्ष मूल्यवान था क्योंकि मानवता के सुधार का यह एक प्रभावशाली माध्यम था। परंतु शुम्पीटर तथा ढल जैसे आनुभविक उदारवादियों की दृष्टि में लोकतंत्र समाज में संतुलन स्थापित करने की एक व्यवस्था मात्र है। आनुभविक उदारवादियों का नैतिक प्रश्नों से कोई सरोकार नहीं है। वे मिल तथा उस जैसे अन्य विचारकों के विचारों को काल्पनिक मानते हैं। उनके लिए लोकतंत्र, समाज को शासित करने की दृष्टि से, दो या उससे अधिक अभिजात वर्गों के बीच शक्ति की प्रतियोगिता का ही दूसरा नाम है। कुछ अमेरिकी राजनीतिक विद्वान तो यहां तक मानते है कि नागरिक भागीदारी का कम होना समाज में संतुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धांतवादियों की दृष्टि में लोकतंत्र एक मानवतावादी आकांक्षा थी। बीसवीं सदी के मध्य में उनके अमेरिकी प्रतिपक्षियों के लिए यह केवल बाजार-संतुलन की एक व्यवस्था थी। इस मत में एक अंतर्निहित अनुदारवाद व्याप्त है। उसके लिए जिससे भी काम चलता है वही वस्तुत: सही है। विद्यमान व्यवस्था को किसी न किसी प्रकार चलाते रहना ही आनुभविक उदारवादियों का अभीष्ट है। ऐसी व्यवस्था में बाजार की अवधारणाएं न्याय व समानता की धारणाओं को निगल जाती हैं।

बाद के वर्षों में मानव गरिमा तथा स्वायत्तता के नाम पर स्वतंत्रतावादी सिद्धांतों का कुछ पुनरूत्थान हुआ है। इसने उदारवाद को एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद की दिशा में तथा दूसरी ओर न्यायपूर्ण समाज की दिशा में प्रवृत्त किया है। बाद का पक्ष अब अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवाद ने स्वतंत्रता पर बल दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वतंत्रता का स्थान समानता ने ले लिया। अब ये दोनों न्याय की अवधारणा से संश्लेषित व रूपांतरित होते दिखाई दे रहे हैं। यह रूपांतरण चरित्र, आत्मज्ञान, सद्गुण व सद्जीवन जैसे अरस्तूवादी आदर्शों के रूप में चरितार्थ हो रहा है। समाज को व्यक्तियों के समुदाय के रूप में देखा जा रहा है। समाज में आज व्यक्तियों की भी अपनी निजी स्वायत्तता है। अब यह तर्क दिया जाने लगा है कि समुदाय को सद्गुण व सद्जीवन के संबंध में नागरिकों के आत्मज्ञान को संयुक्त भावना पर आधारित होना चाहिए। यह

आत्मज्ञान किसी भी ऐसे बहुलवादी समाज की संस्थात्मक व्यवस्थाओं में अनिवार्यतः मूर्त होना चाहिए जहां हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एवं हितों की रक्षा के लिए नाना प्रकार की संस्थाएं हैं। इसे अनिवार्यतः ऐसी राजनीति की ओर अभिप्रेरित करना चाहिए जो हमें सच्ची मैत्री व सहयोग के परिवेश में 'ऐसे सामान्य हित का ज्ञान कराए जो हम अकेले ज्ञात नहीं कर सकते।'

अभ्यास

1. उदारवाद से आप क्या समझते हैं ?
2. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उदारवाद की अवधारणा में हुए विभिन्न सुधारों का उल्लेख कीजिए।
3. उदारवाद में अंतर्निहित विरोधाभासों की चर्चा कीजिए।
4. आनुभविक उदारवाद की व्याख्या कीजिए।

अध्याय 13

समाजवाद

उदय एवं विकास

समाज की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है। एक विचारधारा के रूप में समाजवाद अनेक सिद्धांतों को समाहित किए हुए है, जैसे अराजकतावाद, श्रमिकसंघवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद। राजनीतिक संगठन के संदर्भ में समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान हैं। उनमें से कुछ अधिनायकवादी रहे हैं जबकि कुछ लोकतांत्रिक। आर्थिक संगठन के संदर्भ में भी समाजवाद के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। कुछ अर्थव्यवस्थाएं अत्यधिक केंद्रीकृत रही हैं, जबकि अन्य पूर्णत: विकेंद्रीकृत। समाजवाद की ये सभी व्यवस्थाएं समानता की पक्षधर हैं, यद्यपि समानता के अर्थ के विषय में उनमें व्यापक मतभेद हैं।

समाजवाद को समझने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि आधुनिक काल में उसका उदय किस प्रकार हुआ। यह पूंजीवाद के उदय और विकास के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप प्रकट हुआ था। 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' ने समाज में गंभीर संकट उत्पन्न किए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' को व्यापक समर्थन मिलने लगा था। उस समय तक इंग्लैंड विश्व का प्रथम औद्योगिक राष्ट्र बन चुका था। विक्टोरियायुगीन इंग्लैड की संपन्नता सहज देखी जा सकती थी। लोग इस बात के प्रति आश्वस्त थे कि प्रतियोगिता से समाज में कार्यक्षमता तथा संपत्ति बढ़ती है। वे सर्वाधिक 'समर्थवान के अस्तित्व के सिद्धांत' को सर्वमान्य प्राकृतिक नियम मानते थे। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक इस सिद्धांत की विसंगतियां स्पष्ट होने लगी थीं। आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में सिमट गई थी। अधिकांश लोग भयानक गरीबी की हालत में थे। उनके पास चयन की कोई स्वतंत्रता ही नहीं थी क्योंकि वे जिंदा रहने के लिए भी अपनी मजदूरी पर ही पूरी तरह निर्भर थे। वे इस स्थिति में भी नहीं थे कि अपनी आवश्यकताओं के बारे में कोई निर्णय ले सकें क्योंकि उनमें शिक्षा का सर्वथा अभाव था। यह भी अनुभव किया जाने लगा था कि 'हितों के सामंजस्य' से संबंधित सिद्धांत में भी कोई अधिक सच्चाई नहीं थी। उद्योगपति स्वयं अपने हित-साधन में ही व्यस्त थे। उनको सामुदायिक हितों की कोई विशेष परवाह नहीं थी। मध्यकालीन युग में उचित दर के प्रति एक सुनिश्चित सहमति व्याप्त थी परंतु अब उचित दर जैसी कोई बात नहीं थी। अब कीमतें नैतिक कानूनों से नहीं बल्कि आर्थिक कानूनों से नियंत्रित थीं। लोग इस बात को मानते थे कि यदि प्रत्येक को अपने ढंग से व्यापार करने दिया गया तो उस स्थिति में जंगल का कानून समाज पर हावी होने लगेगा।

प्रतियोगिता से भी वांछित परिणाम नहीं निकले। उसने स्वयं अपने उद्देश्यों को विफल कर दिया। प्रारंभिक अवस्था में उसने आर्थिक उद्यमों की कार्यक्षमता अवश्य बढ़ाई लेकिन जैसे ही बड़े संगठन आर्थिक

शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित करने लगे वैसे ही छोटे-संगठनों के अस्तित्व मिटने लगे। हम अपने देश भारत में भी पूंजीवाद का प्रभाव देख सकते हैं। यहां अर्थव्यवस्था का अधिकांश गिने-चुने बड़े औद्योगिक घरानों के नियंत्रण में है। इस प्रकार स्वयं पूंजीवाद ने उद्यमियों की स्वतंत्रता को सीमित किया है।

पूंजीवाद ने वास्तव में विभिन्न देशों की संपदा में अभिवृद्धि की। इससे यूरोप में अभूतपूर्व संपन्नता आई। मज़दूरी में वास्तविक वृद्धि हुई। परंतु शीघ्र ही बाजारों में उत्पादित सामान की भरमार हो गई। ज्यों-ज्यों प्रतियोगिता बढ़ी, व्यवस्था में संकट उत्पन्न होने लगे, उत्पादन चरम सीमा तक पहुंच गया। लोगों को यह आशंका होने लगी कि एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है जिसमें सभी विक्रेता हो जाएंगे और कोई खरीददार ही नहीं बचेगा। बहुलता तथा मंदी के व्यापार-चक्र बारंबार घटित होने लगे। बेरोजगारी एक आम बात हो गई। लोग यह अनुभव करने लगे कि बहुलता के बीच इतनी अधिक गरीबी क्यों है ? इनमें से कुछ कारणों ने कार्ल मार्क्स को इस भविष्यवाणी के लिए प्रेरित किया कि पूंजीवाद के विनाश के बीज स्वयं पूंजीवाद में ही निहित हैं। समाजवाद की यह मान्यता थी कि पूंजीवाद समतावाद का निषेध करता है, वह अक्षम है तथा वह सब के सुख तथा न्याय की उपेक्षा करता है।

विशेषताएं

समाजवाद का तात्पर्य निम्नलिखित परस्पर संबंधित तत्त्वों से है :

- समतावादी समाज
- मूल आवश्यकताओं की पूर्ति
- उत्पादन के महत्त्वपूर्ण साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व, और
- सेवा का आदर्श।

समतावादी समाज

जी.डी.एच. कोल के शब्दों में समाजवाद, ऐसी मानव बंधुत्व की व्यवस्था पर बल देता है जो वर्ग, जाति व रंग-विषयक भेदों को नकारती है अथवा उनका खंडन करती है। इसका उद्देश्य समाज में समुचित समानता लाना है ताकि सभी समान शर्तों पर एक-दूसरे के साथ निर्वाह कर सकें। इसकी यह मान्यता है कि समानता के बिना वास्तविक स्वतंत्रता संभव नहीं हो सकती। सुरक्षा के अभाव में स्वतंत्रता नहीं रह सकती।

मूल आवश्यकताओं की पूर्ति

यह पहले तत्त्व पर आधारित हैं। समाजवादियों का यह तर्क है कि 'लाभ की इच्छा' का स्थान सेवा भाव को लेना चाहिए। कीमतें उपयोग से निर्धारित होनी चाहिए न कि विनिमय की शर्तों से। वितरण का आधार यह नहीं होना चाहिए कि वह कहां से अधिकतम कीमत पा सकेगा बल्कि यह होना चाहिए कि उसकी कहां सर्वाधिक आवश्यकता है। राज्य की संपत्ति इस प्रकार वितरित होनी चाहिए ताकि सबसे गरीब आदमी भी अपनी मूल आवश्यकताएं पूरी कर सके। हमें पहले सबके लिए पर्याप्त साधन अनिवार्यत: सुनिश्चित करने चाहिए तब कहीं अतिरिक्त लाभ की बात सोचनी चाहिए।

सार्वजनिक स्वामित्व

समाजवाद भूमि, शक्ति, बैंक आदि उत्पादन-साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व व नियंत्रण में विश्वास रखता है। ये संसाधन समाज के किसी भाग विशेष के हित में प्रशासित न होकर सभी के हित में प्रशासित होने चाहिए। कुछ लोगों के सुख के बजाय सब का सुख इस व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। समाजवादियों का यह भी विश्वास है कि सामूहिक

स्वामित्व वाला कोई उद्यम आर्थिक दृष्टि से अधिक कार्य-सक्षम और नैतिक दृष्टि से अधिक संतोषप्रद होता है। समाजवाद की यह मान्यता है कि संपत्ति की विषमाएं, समाज में अवसरों की विषमताएं पैदा करती हैं। भर्ती की व्यवस्था, श्रेष्ठता के चयन को निश्चित नहीं करती। संपन्न वर्ग के बच्चों को जो अवसर मिलते हैं, वे निर्धन वर्ग के बच्चों को नहीं मिल पाते। इस दृष्टि से गरीब अपने जीवन का प्रारंभ ऐसी स्थिति से करता है जो उसके लिए लाभप्रद नहीं है। विषमता की ऐसी स्थिति वास्तव में राज्य की स्थिरता के लिए खतरनाक है। इस प्रकार की विषमता पहल करने की प्रवृत्ति का विनाश करती है और इसलिए वह अमानवीय है।

सेवा का आदर्श

समाजवाद, सार्वजनिक भलाई अथवा सामान्य जनकल्याण के लिए सभी नागरिकों के समान उत्तरदायित्व पर बल देता है। वह कठोर भौतिकवाद तथा प्रतिष्ठित उदारवादियों के व्यक्तिवाद, दोनों का विरोध करता है। पूंजीवादी समाज विकृतियां पैदा करता है। वह अत्यधिक विशेषज्ञता का आग्रह करता है। कारीगरों को उनकी कारीगरी पर गर्व करने से वंचित करता है। सामंती समाज में शिल्पी किसी भी वस्तु का निर्माण पूरी तरह स्वयं करते थे। ऐसी कृति में उन्हें अपनी सृजनात्मक क्षमता का आभास पाकर आनंद प्राप्त होता था, लेकिन अब व्यक्ति मशीन का मात्र एक पुर्जा बनकर रह गया है। कोई पूर्ण कृति बनाने के बजाय वह केवल उसका एक छोटा भाग ही निर्मित करता है। यह संभव है कि उसे इस बात का पता ही न चले कि उसके द्वारा निर्मित भाग कहां, किस चीज से जोड़ा जाएगा। वह उत्पादन की शृंखला की केवल एक कड़ी ही बन कर सामने आता है। परंतु वह झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने को बाध्य है या उसे हफ्ते-महीनों बाज़ार में मजदूरी के लिए खड़े रहना पड़ता है। आधुनिक उद्योगों की इन स्थितियों से वह हताश होता है। मज़दूर इन हालात में इंसान नहीं रह पाता। पूंजीवादी समाज के इसी लक्षण ने मार्क्स, रस्किन, मॉरिस, लास्की व गांधीजी को पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। गांधीजी ने पूंजीवाद को अनैतिक ठहराया क्योंकि उनके मत में पूंजीवाद लोभ व धनलोलुपता को केवल क्षम्य ही नहीं मानता बल्कि उसको गौरवान्वित भी करता है।

समाजवाद तथा साम्यवाद शब्दों का प्राय: पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसा प्रमुखत: कार्ल मार्क्स के शक्तिशाली प्रभाव के कारण हुआ है। इसके बावजूद, इन दोनों में भेद बताना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि साम्यवाद विविध मिश्रित सिद्धांतों से मिल कर आज एक स्पष्ट विचारधारा बन गया है जबकि समाजवाद अभी भी एक प्रवृत्ति है। इसे वैविध्यपूर्ण सिद्धांतों के लिए प्रयुक्त एक लेबिल माना जाता है। एक अर्थ में साम्यवाद भी समाजवाद का एक रूप है। इसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। यहां केवल यह स्पष्ट करना पर्याप्त होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद इस सुनिश्चित मान्यता पर आधारित है कि मानव इतिहास का भावी रूप क्या होगा जबकि समाजवाद की प्रकृति नैतिक है वह यह बताता है कि मानव इतिहास को क्या होना चाहिए। समाजवादियों को यह ज्ञान है कि पूंजीवादी व्यवस्थाओं में भी समानता की अधिक क्षमता विद्यमान है। वे सभी 'सर्वहारा की तानाशाही' के आदर्श को अस्वीकार करते हैं। उनके लिए क्रांति न तो अपरिहार्य है और न आवश्यक। लोकतांत्रिक समाज का मूल मंत्र क्रमिक विकास है। प्रचलित लोकतांत्रिक ढांचे मे आवश्यक सुधार किए जा सकते हैं।

मार्क्सवाद का हिंसक क्रांति में विश्वास था। मार्क्स ने ब्रिटेन जैसे देशों में शांतिपूर्ण परिवर्तन की संभावना को अवश्य स्वीकार किया था, लेकिन कुल मिलाकर उसकी यह मान्यता थी कि पूंजीवादी व्यवस्था का हिंसा के बिना तख्ता नहीं पलटा जा सकता, क्योंकि कोई भी सत्ताधारी वर्ग अपने आप शक्ति नहीं छोड़ता। इसके विपरीत, लोकतांत्रिक समाजवाद संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से शांतिपूर्ण परिवर्तनों पर बल देता है। इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि इन दोनों व्यवस्थाओं का राज्य की प्रकृति व भूमिका के संदर्भ में भिन्न दृष्टिकोण है। मार्क्स के अनुसार राज्य पूंजीपतियों के हाथों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का ऐसा साधन है। जिसका पूंजीपति वर्ग ने जनसाधारण को दबाने व शोषण करने के लिए उपयोग किया है। इसके विपरीत, समाजवादियों ने राज्य को आर्थिक शक्तियों से स्वायत्त माना है। उनके विचार में राज्य के पास इतनी क्षमता है जिसके द्वारा वह समाज में आर्थिक व राजनीतिक शक्ति का पुनर्वितरण कर सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन के 'चार्टिस्ट आंदोलन' तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में गिल्ड समाजवाद व फेबियन समाजवाद, सभी ने क्रांतिकारी तरीकों को अस्वीकार किया था। इसके स्थान पर उन्होंने मताधिकार के विस्तार (चार्टिस्ट), संरक्षणकारी राज्य (लोकतांत्रिक समाजवाद), सुधार के साधन के रूप में राज्य (फेबियन समाजवाद), उद्यमों के आत्म-संचालन से युक्त उत्पादक-राज्य (सिंडिकलिज्म), तथा मजदूर संगठनों के द्वारा शासन (गिल्ड समाजवाद) आदि कार्यक्रमों को अपनाया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद भारत भी समाजवाद का पक्षधर था। हमारे अधिकांश नेता जैसे नेहरू, जयप्रकाश नारायण तथा डा. लोहिया समाजवादी विचारों व सिद्धांतों के प्रबल समर्थक थे। इसी संदर्भ में समाजवादी-समाज को नियोजित अर्थव्यवस्था का एक लक्ष्य घोषित किया गया। हमने लोकतंत्र को फेबियन प्रकार के सामूहिक नियंत्रणों से समन्वित करने का प्रयास किया है, जो हमें आयात-निर्यात के नियमन, उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर रोक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लाईसेंस आदि के लिए प्रेरित करते हैं। गरीबी का उन्मूलन तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता भारतीय राज्य के दो प्रमुख कार्य माने गए हैं। नेहरू ने आर्थिक जीवन में राज्य के व्यापक हस्तक्षेप द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र को प्रोत्साहित करना चाहा ताकि संसाधन जुटाए जा सकें और रोज़गार के उपयुक्त अधिक अवसर पैदा किए जा सकें। तथापि, अब भारत भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण के लक्ष्यों का अनुसरण कर रहा है।

कोयला, इस्पात, बैंक व ऊर्जा जैसे बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में आवश्यक कदम उठाए गए हैं। भारत ने सार्वजनिक आवास, स्वास्थ्य, प्रौढ़ शिक्षा तथा भूमि सुधारों से संबंधित कार्यक्रम भी लागू किए हैं, परंतु भारतीय समाजवाद केवल इतना समाजवादी है कि उसने मात्र कुछ संसाधनों का पुनर्वितरण ही किया है। वह वास्तविक अर्थ में समाजवादी नहीं है।

अब यह अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा है कि किसी न किसी रूप में समाजवाद आवश्यक है। परंतु हम यह भी जान गए हैं कि केवल लोककल्याणकारी सेवाओं तथा सरकारी नियमनों से समाजवाद नहीं लाया जा सकता। वास्तव में, कुछ क्षेत्रों में इसने केंद्रीकरण तथा नौकरशाही को ही बढ़ावा दिया है। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया तथा रॉजर गॉरौड़ी सरीखे समाजवादियों ने राजनीतिक शक्ति तथा अर्थव्यवस्था के विकेंद्रीकरण पर अत्यधिक बल दिया है। केंद्रीकृत नियोजन आर्थिक विकास की एक ऐसी समरूपी व्यवस्था निर्मित करता है जो वैयक्तिक आकांक्षाओं

की स्थानीय विविधता पर पूरा ध्यान केंद्रित नहीं कर पाती। किसी भी अच्छे समाज में कर्तव्यों का निर्धारण वास्तव में व्यक्तिगत क्षमताओं, अभिरुचियों, पुरस्कारों तथा सामान्य जीवन में व्यक्ति के योगदान के आधार पर किया जाना चाहिए। सामाजिक जीवन की जटिल प्रकृति की अनुभूति तथा विभिन्न समूहों की महत्ता समाजवाद को अति केंद्रीकरण, नौकरशाहीकरण तथा समरूपता की कमियों से बचा सकती है। हमें अनिवार्यत: ऐसी मानव आवश्यकताओं की पहचान करनी चाहिए तथा निर्णय-निर्माण के ऐसे व्यापक केंद्र स्थापित करने चाहिए जो विभिन्न स्तरों पर आर्थिक व राजनीतिक पहल का सिलसिला शुरू कर सकें। इस प्रकार के सिद्धांतों को कैसे व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, यही हमारे समय में समाजवाद के समक्ष सबसे प्रमुख चुनौती है।

आज यह भी अनुभव किया जा रहा है कि सार्वजनिक स्वामित्व तथा आर्थिक सहायता केवल बड़े निगमों को ही लाभ पहुंचाती है। वे व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के खतरों को कम करती है। कर व्यवस्था भी मजदूरों की अपेक्षा केवल बड़े धनिकों को ही लाभ पहुंचाती है। अत्यधिक संपन्न वर्ग की संपत्ति को बहुसंख्यक निर्धन वर्ग में पुनर्वितरित करने के काम में इससे बहुत कम सहायता मिली है। इसने प्राय: संपत्ति का पुनर्वितरण मध्यम वर्ग तक ही सीमित रखा है।

अपने उद्देश्यों को कार्यरूप देने के लिए समाजवाद को स्वयं अपने-आप को रूपांतरित करना होगा। यह हो सकता है कि भविष्य में उसे एक ओर उदारवाद तथा दूसरी ओर मार्क्सवाद तथा एक ओर संभवत: वैयक्तिक पहल व न्याय तथा दूसरी और वर्ग-संघर्ष के मध्य से किसी प्रकार का संतुलन स्थापित करना पड़ेगा।

अभ्यास

1. समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. समाजवाद तथा साम्यवाद में अंतर बताइए।
3. भारत में कौन-कौन से समाजवादी प्रयास किए गए हैं?
4. टिप्पणी लिखिए :
   (क) समतावादी समाज
   (ख) लोकतांत्रिक समाजवाद
   (ग) गिल्ड समाजवाद

मार्क्सवाद

उदय

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड में औद्योगिक व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। मशीन निर्मित वस्तु की तुलना में हस्तशिल्पियों का संघर्ष निष्फल हो गया था। इसलिए उन्हें मजबूर होकर अपना काम छोड़कर श्रमिक के रूप में कारखानों में काम करना पड़ा। इस नई व्यवस्था ने श्रमिकों के लिए अनेक संकट पैदा किए। उन्हें प्राय: एक दिन में 16 से 18 घंटे तक श्रम करना पड़ता था। कपड़ा मिलों में सफाई व स्वास्थ्य की उपयुक्त सुविधाओं का अभाव था। कारखानों के बाहर ये मजदूर भीड़-भरी गंदी झुग्गी-झोपड़ियों में रहते थे। उनमें से अधिकांश छोटे ग्रामीण समुदायों से आकर शहरों में बस गए जिस कारण नए शहरी परिवेश में उनकी पहचान खो गई। कारखानों ने उन्हें अपने घरवालों तथा बिरादरी से पृथक कर दिया था। इस दशा में वे ऐसी मशीन का पुर्जा बनकर रह गए थे जिस पर उनका कोई बस नहीं था।

सेंट साइमन, राबर्ट ओवेन जैसे प्रारंभिक समाजवादी इन स्थितियों से बहुत संत्रस्त थे। मार्क्स उन सशक्त चिंतकों में से एक थे जिन्होंने प्रारंभिक औद्योगीकरण की उथल-पुथल को भली-भांति समझा था। यह बात *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* से भली-भांति प्रकट होती है जो उन्होंने फ्रेडरिक एंगिल्स के साथ मिल कर लिखा था। मानवीय आधार पर समाज को रूपांतरित करने के लिए मार्क्स उत्सुक था। उसकी तलाश अनिवार्यत: एक मानवोचित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से संबंधित थी। उसने एक ऐसे समाज की उलझनों को उजागर किया जो लाभ, प्रतियोगिता व 'अहस्तक्षेप के सिद्धांतों' पर आधारित था। उसने यह स्पष्ट किया कि दुर्दशा व अलगाव का स्रोत वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था में निहित है जो उक्त सिद्धांतों के आधार पर काम करती है।

मार्क्सवाद के सिद्धांत

मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं :

- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
- ऐतिहासिक भौतिकवाद
- वर्ग-संघर्ष
- पूंजीवाद की समालोचना
- क्रांति तथा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद
- वर्गहीन समाज का उदय

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स, हीगल के इस मत से सहमत थे कि इतिहास एक प्रक्रिया है, परंतु इस प्रक्रिया की प्रकृति के संबंध में वह हीगल से सहमत नहीं थे। जहां हीगेल ने विचारों व चेतना की प्राथमिकता के संदर्भ में मानव इतिहास की व्याख्या की, वहां मार्क्स ने भौतिक शक्तियों को प्राथमिकता दी। उसके अनुसार उत्पादन के साधन तथा

प्रकार ही परिवर्तन के अभिकरण होते हैं। उत्पादन का प्रकार वह तरीका है जिसमें उत्पादन के साधनों का प्रयोग किया जाता है। साधन वास्तव में ऐसे उपकरण व तकनीकें होती हैं जिनके द्वारा आर्थिक उत्पादन किया जाता है। मानव-श्रम तथा संगठन भी साधनों के ही उदाहरण हैं। उत्पादन प्रणाली वह तरीका है जिसके अनुसार सत्ताधारी वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए उत्पादन के साधनों का प्रयोग करता है। इस प्रकार उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के संबंध तथा साधन दोनों सम्मिलित होते हैं। सत्ताधारी वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपना नियंत्रण बनाए रखता है ताकि समूची सामाजिक व्यवस्था पर उसका नियंत्रण स्थापित हो सके। *ए कंट्रीब्यूशन टु क्रिटीक पोलिटिकल इकोनॉमी* में मार्क्स ने यह घोषणा की कि समाज का इतिहास भौतिक उत्पादन का इतिहास है। वह भौतिक उत्पादनकारी शक्तियों तथा उत्पादन संबंधों के अंतर्विरोध का इतिहास है जो उनके परिणामस्वरूप प्रकट होते हैं। यह अंतर्विरोध वर्ग-संघर्ष की सहायता से सुलझाया जाता है।

मार्क्स, हीगल के इस विचार से भी सहमत थे कि इतिहास द्वंद्वात्मक संबंधों का क्रियान्वयन है। हीगल के 'द्वंद्वात्मकता का सिद्धांत' का संबंध केवल विचारों तक ही सीमित था, जबकि मार्क्स ने द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में आर्थिक कारकों की भूमिका पर बल दिया। मार्क्स के अनुसार यह प्रकृति तथा मानव एवं क्रमिक बनने वाले सामाजिक संगठनों तथा प्रतियोगी सामाजिक वर्गों में व्याप्त तनावों का निराकरण है। द्वंद्वात्मकता एक ऐसी प्रक्रिया है जो ऐतिहासिक परिवर्तन को चरितार्थ करती है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान किसी समय-विशेष में सामाजिक शक्तियों के एक समूह को वाद, दूसरे को प्रतिवाद तथा तीसरे को संवाद के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है इसके उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि वाद (जैसे सामंतवाद) का मुकाबला प्रतिवाद (जैसे पूंजीवाद) से होता है जो कि वर्ग-संघर्ष के माध्यम से विकास की अगली अवस्था में पहुंचता है जिसे संवाद (जैसे समाजवाद) कहा जा सकता है। इस संवाद में वाद तथा प्रतिवाद दोनों के सर्वोत्तम लक्षण समाहित होते हैं। प्रत्येक अवस्था, इस प्रक्रिया के दौरान संक्रमणशील होती है। उसके उदय के साथ ही उसके विषय में यह पूर्वानुमान भी रहता है कि कालांतर में वह विकास की अगली अवस्था के लिए स्थान बनाएगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद, सामाजिक संदर्भ में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का क्रियात्मक रूप है, हीगल की भांति मार्क्स ने भी इतिहास को मानव गतिविधि का सर्वग्राही संदर्भ माना था परंतु फ्युअरबैक का अनुसरण करते हुए मार्क्स ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं, कार्यों तथा उस व्यापक आर्थिक व्यवस्था से संगठित होता है जिसका वह एक अंश है। उसके अनुसार आर्थिक गतिविधि समस्त अन्य गतिविधियों का आधार निर्धारित करती है। राजनीतिक व्यवस्था, न्यायिक विचार तथा नैतिक धारणाएं, ये सभी उस पद्धति से उत्पन्न होते हैं जिनसे आर्थिक गतिविधियां संरचित होती हैं। सामाजिक अस्तित्व मूलतः उत्पादन संबंधों की एक ऐसी शृंखला है जो सुनिश्चित उत्पादन के प्रकारों की समानुपाती है। *क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी* में मार्क्स ने आर्थिक आधार (उत्पादन संबंध) तथा अधि-संरचना (संस्कृति, राजनीति, दर्शन साहित्य) में अंतर स्पष्ट किया है।

मार्क्स की यह मान्यता है कि इतिहास उत्पादनकारी शक्तियों के आत्मविकास का एक अभिलेख है। उसकी प्रत्येक अवस्था ऐसे सामाजिक स्वरूप से

चरितार्थ होती है जिसकी अपनी एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति होती है। जब एक समाज किसी दूसरे समाज का स्थान लेता है तो इस स्थिति में इसकी उत्पादन पद्धति, दूसरी उत्पादन पद्धति का स्थान ले लेती है। सामाजिक स्वरूपों की इस शृंखला में आदिम समाज, दास समाज, सामंती समाज, बुर्जआ समाज तथा अंततः भावी वर्गहीन समाज क्रमशः आते हैं। यह भावी वर्गहीन समाज की अवस्था मानव प्रगति की चरम सीमा होगी। इससे एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के शोषण से मुक्त हो जाएगा। उत्पादन पद्धति में परिवर्तन के साथ स्वयं समाज का स्वरूप बदल जाता है तथा एक नई सामाजिक व्यवस्था जन्म लेती है। यह पूर्ववर्ती सामाजिक अवस्था से यथार्थ रूप में बेहतर होती है क्योंकि यह उत्पादन-संबंधों को उत्पादन-शक्तियों के परिवर्तनों के अनुरूप बनाती है।

वर्ग संघर्ष

मार्क्स ने आर्थिक वर्गों में संघर्ष की स्थिति स्थायी रूप से बने रहने पर बल दिया था। प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) में परिवर्तन तथा कार्यों की विशेषज्ञता, प्रतिष्ठा, संपत्ति व राजनीतिक शक्ति में अंतर लाती है। इसके परिणामस्वरूप नए सामाजिक वर्ग विकसित होते हैं। उनमें से कुछ उत्पादन-साधनों के स्वामी होते हैं जबकि कुछ उनके सहारे जीते हैं। बहुत जल्दी ही इन दोनों प्रतिद्वंद्वी-वर्गों में अपरिहार्य संघर्ष प्रकट होता है। मार्क्स और ऐंगिल्स ने *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* में लिखा था कि ''अब तक सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।'' संघर्ष इसलिए है कि जिनका उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व है वे मज़दूरों की कमज़ोर आर्थिक स्थिति का अपने हित में उपयोग करते हैं। वे मज़दूरों से अधिकतम काम लेते हैं और बदले में उन्हें कम से कम मज़दूरी देते हैं। पूंजीवादी समाज में समाज दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों में बंट जाते हैं- *बुर्जुआ* वर्ग जिसके पास संपत्ति होती है तथा *सर्वहारा वर्ग* जो बहुसंख्यक होने के बावजूद बुर्जुआ वर्ग से शोषित होते हैं। कालांतर में यह संघर्ष अत्यधिक तेज हो जाता है क्योंकि इस स्थिति में मज़दूर न्यूनतम जीवनस्तर से नीचे का जीवननिर्वाह करने पर मजबूर हो जाते हैं। वे औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादित सामान को नहीं खरीद पाते।

राज्य, विकास की एक विशिष्ट अवस्था में, आर्थिक दृष्टि से प्रभुताशाली वर्ग के हाथ का खिलौना बन जाता है। राजनीतिक शक्ति वास्तव में आर्थिक शक्ति की ही उपज है। जैसे ही आर्थिक शक्ति सामंती वर्ग से बुर्जुआ वर्ग के पास आ जाती है, वैसे ही राजतंत्र, प्रतिनिधि-लोकतंत्र के लिए जगह बना देता है जो कि उद्यमियों द्वारा नियंत्रित होता है। 'राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत' आधुनिक उदारवाद को अपना स्थान दे देता है। शक्ति की संरचना पर विशेषकर कानून, पुलिस तथा न्यायिक व्यवस्था पर प्रभुताशाली वर्ग के प्रभुत्व को सुदृढ़ करने के लिए उदारवादी सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार राज्य, समाज के कमजोर वर्गों के शोषण के लिए प्रभुताशाली वर्ग के हाथों में एक साधन बन कर रह जाता है।

पूंजीवाद की समालोचना

मार्क्स के सर्वाधिक दीर्घजीवी लेखन, विशेषतः दास *केपिटल* में पूंजीवाद की समालोचना थी। कोई भी अन्य लेखक उसके नैतिक उत्साह तथा सुव्यवस्थित विश्लेषण की बुलंदियों को आज तक छू नहीं सका है। मार्क्स का यह तर्क था कि पूंजीवादी व्यवस्था का मूल विरोधाभास यह है कि एक ओर जहां वह फैक्टरी प्रणाली के विकास के कारण विविध कार्यों में पारस्परिक निर्भरता का परिचय देती है वहीं दूसरी

और उससे निजी हितों में आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण होता है। इस प्रकार जहां उत्पादन का संगठन सामाजिक है वहीं उसका वितरण निजी हाथों में है। मार्क्स इस बात के प्रति आश्वस्त था कि पूंजीवाद का पतन अपरिहार्य है। इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में मार्क्स का विश्वास ही उसे अपने पूर्ववर्ती विचारकों से अलग करता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज की एक अन्य कमी यह है कि उससे अत्यधिक असमानता विकसित होती है। जनता का एक बहुसंख्यक वर्ग इस व्यवस्था में गरीबी व अभाव का शिकार होता है। पूंजीवादी व्यवस्था मज़दूरों के खून-पसीने पर टिकी हुई है और इसके बावजूद वे ही इस व्यवस्था के बुरी तरह शिकार होते हैं। इन्हें उत्पादन की तुलना में बहुत कम मिलता है। इस व्यवस्था में कुछ लोग, अधिकांश को गरीबी की हालत में रख कर स्वयं विलासिता का जीवन जीते हैं। किसी वस्तु के मूल्य-निर्धारण का एक मात्र तरीका उसके उत्पादन पर लगी मज़दूरी का आकलन ही होता है। इस मापदंड के अनुसार मज़दूर ही मूल्य के नियामक होते हैं पूंजीपति नहीं, लेकिन मज़दूरों को ही अपने भाग से वंचित रहना पड़ता है और उन्हें कम से कम मज़दूरी दी जाती है। मज़दूरों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त लाभ पूंजीपति ले जाता है। मार्क्स ने उत्पादन मूल्य तथा विक्रय मूल्य के अंतर को अतिरिक्त मूल्य की संज्ञा दी है, जो पूंजीपतियों द्वारा मज़दूरों के शोषण का माध्यम बन जाता है। लाभ के लिए पूंजीपति भी आपस में प्रतिद्वंद्वी बन जाते हैं।

पूंजीवाद का एक लक्षण यह है कि वह मज़दूरों को एक करता है और उनमें सामुदायिक भाव पैदा करता है। सामंती युग के मज़दूर एक दूसरे से अलग एकाकी परिस्थितियों में रहते थे। माल का निजी उत्पादन होता था। आधुनिक फैक्टरी प्रणाली मज़दूरों को एकजुट करती है, उनमें वर्गीय चेतना पैदा करती है तथा इस प्रकार वह अंततः संगठित वर्गीय संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है जो क्रांति की ओर जाता है। प्रारंभ में मार्क्स का यह विचार था कि क्रांति हिंसक ही होगी। बाद में, विशेषत: 1848 के उपरांत, मार्क्स ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया तथा क्रांति के अन्य रास्तों को भी अपने चिंतन में समाहित किया। उसके अनुसार समाजवाद की दिशा में संक्रमण किसी देश की सामाजिक आर्थिक स्थितियों के अनुरूप ही हो सकता है। इस संदर्भ में उसने इंग्लैंड का उदाहरण दिया जहां समाजवाद की दिशा में संक्रमण अधिक शांतिपूर्ण हो सकता था।

पूंजीवाद का मूल विरोधाभास यह है कि जहां एक ओर उसने फैक्टरी प्रणाली के माध्यम से मज़दूरों को परस्पर निर्भरता की ओर प्रवृत्त किया, वहीं दूसरी ओर वह सभी के हित में संपत्ति वितरित करने में विफल रहा है। उत्पादन-साधनों के सामाजीकरण को निजी मुनाफे की किसी भी व्यवस्था से जोड़ा नहीं जा सकता। इस विरोधाभास को सामंतवाद व समाजवाद

	सामंतवाद (वाद)	*पूंजीवाद (प्रतिवाद)*	*समाजवाद (संवाद)*
उत्पादन का संगठन	निजी	सामाजिक	सामाजिक
वितरण का निजी सिद्धांत	निजी	निजी	सामाजिक

की निम्नलिखित विशेषताओं के संदर्भ में अच्छी तरह समझा-परखा जा सकता है।

क्रांति और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद

जैसे ही समाजवादी क्रांति होती है, राजनीतिक-आर्थिक शक्ति सर्वहारा वर्ग के हाथों में आ जाती है और बुर्जुआ लोकतंत्र के स्थान पर सर्वहारा की तानाशाही स्थापित हो जाती है। इस तानाशाही में ही सच्चा लोकतंत्र प्रकट होता है क्योंकि यह व्यवस्था मूलतः चंद शोषकों के विरुद्ध व्यापक बहुमत वाली मजूदरों की सरकार होती है। इस व्यवस्था के दौरान सर्वहारा वर्ग उत्पादन-साधनों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करके तथा सभी नागरिकों को नई सामाजिक व्यवस्था में समान भागीदार बना के बुर्जुआ व्यवस्था के बचे-खुचे अवशेष भी ध्वस्त कर देता है।

वर्गहीन समाज का उदय

जैसे ही बुर्जआ वर्ग पूरी तरह नष्ट हो जाएगा वैसे ही राज्य विलुप्त हो जाएगा और ऐसा समाज पैदा होगा जिसमें न तो राज्य होगा और न कोई वर्ग। ऐसे समाज में हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार योगदान देगा और अपनी आवश्यकतानुसार पाएगा। मार्क्स को यह विश्वास था कि इस सामाजिक स्थिति से पैदा हुआ नया इंसान स्वाभाविक व स्वतः स्फूर्त रूप से समाज के सामान्य हित के अनुरूप अपने हितों को ढाल सकेगा। यहां यह उल्लेख आवश्यक है कि इन काल्पनिक विचारों के अतिरिक्त मार्क्स भावी समाज के विषय में कुछ नहीं कहता। उसका मूल उद्देश्य तो अपने चिंतन में पूंजीवाद की सशक्त समालोचना प्रस्तुत करना ही था। उसने हमारा ध्यान इस विचार की ओर आकर्षित किया कि व्यक्ति की दासता और अलगाव का स्रोत तो पूंजीवादी व्यवस्था में ही निहित है। व्यक्ति व्यवस्था द्वारा शोषित भी होता है और अपनी स्थिति और दासता के प्रति सचेत भी। वह व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता है क्योंकि यह एकाधिकारवादी पूंजीवाद, असमानता, वर्ग संघर्ष और जनसाधारण को कंगाली की ओर ले जाती है।

मार्क्सवाद की सीमाएं

मार्क्स ने राष्ट्रीय व देशभक्ति की भावनाओं के महत्त्व को पर्याप्त रूप से नहीं समझा। इस दृष्टि से उसका सिद्धांत वर्ण केंद्रिक (ethnocentric) है। उसने समकालीन पूंजीवादी समाज से संबंधित कुछ गहन व गूढ़ नैतिक प्रश्नों को भली-भांति समझा था। वह वर्गों तथा उनके संघर्षों से भी परिचित था, परंतु उसे अन्य समाजों और उनकी विशिष्ट संस्थाओं एवं परंपराओं की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। ये संस्थाएं और परंपराएं प्रायः वर्गीय एकता को लांघ जाती हैं। उसने पूंजीवाद की स्वयं को परिवर्तित करने की क्षमता को कम आंका था। पश्चिम के अधिकांश देशों ने संघर्ष को मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुरूप विकसित होने देने की अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया। इनमें से कुछ लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में स्वयं राज्य ने समाज के सबसे कमजोर वर्गों के पक्ष में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। एक अन्य अर्थ में भी उसकी भविष्यवाणी खरी नहीं उतरी। मार्क्स का विश्वास था कि क्रांति सर्वाधिक उन्नत पूंजीवादी देशों में होगी जबकि वास्तव में यह पिछड़े अल्प-विकसित पूंजीवादी समाजों में ही हुई है।

राज्य को वर्गीय-प्रभुत्व के साधन के रूप में परिलक्षित करने के प्रयास में मार्क्स ने इस तथ्य की भी उपेक्षा की कि कोई भी राज्य तब तक अधिक समय तक नहीं टिक सकता जब तक कि वह विशेष हितों से ऊपर उठकर समाज के व्यापक हितों के लिए कार्य नहीं करता। केवल राज्य ही

हमें बेहतर व संगठित जीवन का ढांचा प्रदान कर सकता है। केवल वही हमारे दावों और प्रति-दावों का समाधान कर सकता है। कुशलतापूर्वक कार्य कर रही किसी व्यवस्था में विशिष्ट हितों को सार्वजनिक कल्याण की भावना से मर्यादित होना ही चाहिए। इसके बिना व्यवस्था बिखर जाएगी। विशेष-हितों का नियमन राज्य-गतिविधि का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। वास्तव में, मार्क्स के पास राज्य का कोई सिद्धांत नहीं था। रूस में, व्यवस्था का ढांचा निर्मित करने के लिए लेनिन को राज्य के सिद्धांत का आविष्कार करना पड़ा। नि:संदेह पूंजीवादी व्यवस्था बुरी थी लेकिन केवल राजनीतिक शक्ति की मदद से ही उसे परिवर्तित, रूपांतरित अथवा प्रतिस्थापित किया जा सकता था। केवल राज्य ही सामान्य हित के कार्य कर सकता है। यह संभव है कि कोई पूंजीवादी राज्य किसी सर्वहारा-राज्य से प्रतिस्थापित हो जाए परंतु किसी समाज में समन्वय स्थापित करने के लिए हमें राज्य की साधन के रूप में आवश्यकता तो पड़ेगी ही।

लेनिन तथा माओ

रूस वह देश था जहां प्रथम मार्क्सवादी क्रांति हुई थी तथा व्लादीमिर इल्यीच लेनिन (1870-1924) उस क्रांति के वैचारिक प्रणेता थे। *व्हॉट इज टु बी डन* शीर्षक की अपनी पुस्तिका में लेनिन ने पूंजीवाद के अपरिहार्य पतन संबंधी मार्क्स के विचार का खंडन किया। मार्क्स का यह विश्वास था कि आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन से समाज व राजनीति की बाह्य-संरचना में अपने आप बदलाव कर देगा। उसकी यह घोषणा था कि हस्त-उद्योग हमें सामंती समाज देते हैं जबकि इस्पात मिल पूंजीवादी समाज में पहुंचा देती है। लेनिन ने इस सिद्धांत को नहीं माना। उसके अनुसार यद्यपि मज़दूरों में मज़दूर संघ संबंधी चेतना विद्यमान थी परंतु इसे पाने के लिए उनमें आवश्यक क्रांतिकारी अभिकरण विकसित करने की इच्छा शक्ति नहीं थी। ऐसी एजेंसी के अभाव में उनकी एकमात्र इच्छा यह थी कि वे मजदूर संघों के माध्यम से अपनी मज़दूरी में ही वृद्धि चाहते थे। किसी भी समाज में क्रांतिकारी चेतना केवल व्यावसायिक क्रांतिकारी वर्ग के योगदान से ही लाई जा सकती है– ऐसे अग्रणी लोग बाहर से ही क्रियाशील होते हैं। इन व्यावसायिक क्रांतिकारियों की सर्वाधिक अभिव्यक्ति किसी राजनीतिक दल में ही संभव हो सकती है। अत: उसने मार्क्सवादी इतिहास की वस्तुगत शक्तियों का स्थान एक अत्यधिक अनुशासित राजनीतिक दल के सक्रिय हस्तक्षेप को दिया।

लेनिन ने इस बात की भी व्याख्या करने का प्रयास किया कि समाजवादी क्रांति, पश्चिम में क्यों नहीं घटित हो सकी, जैसा कि मार्क्स ने भविष्य-वाणी की थी। 1916 में लेनिन की *इम्पीरियलिज्म : दि हाइएस्ट स्टेट ऑफ केपिटलिज्म* प्रकाशित हुई जिसमें उसने यह तर्क दिया कि एकाधिकारी पूंजीवादी राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय न्यासों तथा उत्पादक-संघों की ओर प्रेरित करता है। वह इस बात के प्रति आश्वस्त था कि पूंजीवादी व्यवस्था की यह मूल प्रवृत्ति सर्वत्र एक जैसी थी। इस प्रवृत्ति के कमजोर होने का कारण यह था कि अमीर देशों ने दुनिया में उपनिवेश कायम कर लिए थे। ये देश उपनिवेशों से संसाधन जुटाते थे तथा बना माल उन्हें बेचते थे। इस स्थिति ने अतिरिक्त मूल्य का अंतर्राष्ट्रीयकरण प्रकट किया और साथ ही पूंजीपतियों की संपन्नता भी बढ़ गई। पूंजीपतियों ने अधिक से अधिक रियायतें देकर मज़दूरों से अपनी ऊपरी आमदनी कुछ हद तक बांटनी चाही। ऐसा उन्होंने मज़दूरों को अधिक मज़दूरी व कार्य-स्थितियों में अधिक रियायतें देकर किया। ये रियायतें, पूंजीपतियों की अपनी सुरक्षा के प्रति चिंता

का ही परिणाम थीं। इन रियायतों ने मज़दूरों में 'लघु-बुर्जुआ' भ्रांति पैदा की। इस भ्रांति से मजदूर नेताओं में भ्रामक-चेतना पैदा हुई और वे स्वयं 'मजदूर कुलीनतंत्र' में परिवर्तित हो गए। उपनिवेशों के शोषण के फलस्वरूप प्राप्त अधिक मजदूरी व अन्य कार्य सुविधाओं ने उन्हें भ्रष्ट कर दिया। ऐसी व्यवस्था को बनाए रखने से ही उनका निहित स्वार्थ सिद्ध हो सकता था।

लेनिन की यह भविष्यवाणी थी कि समाजवादी क्रांति संभवत: रूस में अधिक आसानी से हो सकती थी क्योंकि वह पूंजीवादी शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी थी।

चीन में माओज़ेडांग क्रांति के लिए मुख्यतः उत्तरदायी था। उसके नेतृत्व में किसान-आधारित सेनाएं बनीं। सत्ता में आने के बाद माओ ने बुनियादी औद्योगीकरण व सामूहिकीकरण द्वारा कृषि-पैदावार में वृद्धि के प्रयास किए। मार्क्स ने साम्यवाद को विकसित पूंजीवाद के रास्ते आते देखा था। माओ की दृष्टि में साम्यवाद मूलत: उत्पादनकारी प्रक्रिया का सामूहिकीकरण तथा निजी संपत्ति का उन्मूलन था। उसने मार्क्सवाद को चीन की प्राकृतिक विशेषताओं में समन्वित करने का प्रयास किया। उसने व्यावसायीकरण के स्थान पर राजनीतिकरण पर बल दिया।

समसामयिक मार्क्सवाद में तनाव

रूस में मार्क्सवाद एक विभिन्न प्रकार के आधुनिक राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक ढांचा तैयार करने में समर्थ सिद्ध हुआ था। वह रूसी समाज में युगों से चले आ रहे प्रतिमानों को बदलने में तथा 8 प्रतिशत राष्ट्रीय विकास दर प्राप्त करने वाली औद्योगिक व्यवस्था निर्मित करने में सफल हुआ था, परंतु क्रांतिकारी विचारों की यह दशा अधिक समय तक नहीं टिक पाई। पूर्ववर्ती समाजों की भांति रूस और चीन दोनों ने अपने-अपने शासक वर्ग विकसित किए जिनमें नौकरशाही के आधिक्य और दलीय नियंत्रण की शक्ति से मोहग्रस्त थे। नौकरशाही और दल दोनों ने कुछ विशेषाधिकार प्राप्त करने की कोशिश की और क्योंकि दल और राज्य दोनों घुले-मिले थे इसलिए दल का समाज पर पूरा नियंत्रण था। स्टालिन ने तो दल के भीतर बहस को समाप्त कर अंतिम निर्णय का अधिकार अपने पास रखा। जैसे ही विचारधारा संस्थाबद्ध हुई वैसे ही इसका कर्मकांड हुआ और यथास्थिति से तादात्मय स्थापित करने की प्रवृत्ति से पहचानी जाने लगी।

लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया है कि जबकि साम्यवाद के लक्ष्यों में कुछ विशेष गुण निहित थे परंतु पूरी व्यवस्था शक्ति के दुरूपयोग को रोकने के लिए संस्थागत व्यवस्था निर्मित करने में असफल रही। शक्ति अपनेआप में बुरी नहीं होती। वस्तुत: कुछ परिस्थितियों में यह सकारात्मक अच्छाई का स्रोत होती है। गरीबी की समस्या के समाधान के लिए कभी-कभी राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। समुचित उत्तरदायित्व के रूप में उचित सुरक्षात्मक उपायों के अभाव में नेता अथवा दल और नौकरशाही निर्णय लेने का एकाधिकार अपने हाथ में ले लेते हैं और समस्याओं का निदान जनता के नाम पर और कुछ मामलों में जनता का विरोध होते हुए भी स्वतंत्रता पर होने वाले प्रत्येक प्रहार को विचार व वर्ग के नाम पर उचित ठहराया जाता है।

परिणामस्वरूप, साम्यवादी आंदोलन पतन की ओर जाने लगा जिसका पहली बार बोध तब हुआ जब रूस और चीन के साम्यवादियों के बीच मतभेद उभर कर सामने आए। 1960 के तुरंत बाद पूर्व और मध्य यूरोप के साम्यवादी समाजवादी देशों में समस्याएं और अलोकप्रिय स्थितियां उभरने लगीं। दूसरी ओर सत्तर के दशक में

इटली की साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व में यूरोपीय साम्यवाद की ओर झुकाव ने संसदीय संस्थाओं तथा क्रांति के स्थान पर सुधारों का समर्थन कर समझौतावादी प्रवृत्ति को अपनाया। पूर्वी यूरोप के साथ-साथ चीन और रूस में भी तीव्रता से परिवर्तन हुए।

1979 और 1986 में चीन में व्यापक लोकतंत्र के लिए आंदोलन प्रारंभ किए गए। 1989 के जून मास में टियनमेन चौक पर एक छात्र रैली के दौरान कई आंदोलनकारियों को गोली से भून दिया गया। सोवियत संघ में मिखायल गोर्बाचोफ द्वारा प्रारंभ किया गया सुधार आंदोलन न केवल यूरोप अपितु पूरे विश्व से साम्यवाद के अंत का प्रारंभ था। अंततः 1991 में सोवियत संघ विघटित हो गया। सोवियत संघ के विघटन का अर्थ अपने आप में साम्यवादी विचारधारा का विघटन नहीं था। सोवियत संघ के पतन के साथ यूरोप के देशों में साम्यवादी/समाजवादी व्यवस्था एक के बाद एक टूटती चली गई। इन सब देशों की अर्थव्यवस्था जर्जर स्थिति में थी। रूस में उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतें 350 गुना तक बढ़ गई और 90 प्रतिशत लोगों को गरीबी रेखा के नीचे धकेल दिया गया। इसलिए राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन अपने साथ अर्थव्यवस्था में तीव्र परिवर्तन लाया। बाजारवाद की ताकतों में परिवर्तन की प्रवृत्तियां, अर्थव्यवस्था में खुलापन और निजीकरण की ओर झुकाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था। साम्यवादी/समाजवादी चीन में भी अर्थव्यवस्था में उदारवाद और खुलेपन के स्पष्ट संकेत हैं। इन घटनाओं ने साम्यवादियों को सामाजिक संबंधों की संरचना पर गहन चिंतन के लिए विवश किया है। अब एक प्रश्न उठाया जा रहा है कि क्या मार्क्सवाद मानव स्वतंत्रता के प्रति दुराग्रह था। विश्व के समक्ष इसकी प्रासंगिकता एक वैकल्पिक विचारधारा के रूप में अब प्रश्नों के घेरे में है।

अभ्यास

1. मार्क्सवाद की परिभाषा लिखिए।
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिए।
3. क्या मार्क्सवाद आज भी प्रासंगिक है?
4. मार्क्सवाद में लेनिन की भूमिका की चर्चा कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
   (ख) वर्ग संघर्ष सिद्धांत
   (ग) वर्गविहीन समाज

अध्याय 15

फ़ासीवाद

उदय

साम्यवाद के विपरीत, फ़ासीवादी का कोई सुगठित सिद्धांत न होकर एक दृष्टिकोण अधिक था। जनसाधारण के प्रति अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए फ़ासीवाद को सबके लिए सब कुछ होना था। फ़ासीवादी नेता अपने सुपरिभाषित सिद्धांत की कमी की यह कहकर रक्षा करते थे कि फ़ासीवाद मुख्य रूप से एक कार्ययोजना अधिक है। मुसोलिनी ने कहा था, ''हम ऐसे कट्टर कार्यक्रमों में विश्वास नहीं रखते जिनमें यह माना जाता है कि वे परिवर्तनशील, परिवर्तित तथा जटिल यथार्थ को समाहित तथा परित्याग कर सकें... सुस्पष्ट शीर्षकों और परिच्छेदों से सुसज्जित सिद्धांत का अभाव हो सकता है, परंतु इसका स्थान किसी अधिक निर्णायक भाव को लेना है और वह है... विश्वास।"

फ़ासीवाद प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप प्रकट शक्तियों व उनकी कार्यप्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिचायक था। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत आयोजित पेरिस सम्मेलन में इटली को अपने प्रमुख क्षेत्र संबंधी दावों से वंचित किया गया था। इस कारण उसने यह अनुभव किया कि मित्र देशों ने उसके साथ विश्वासघात किया है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गई थी। बेरोजगारी बढ़ गई थी। एक के बाद एक संसदें, अपना प्रतिनिधि-चरित्र खोते हुए भ्रष्ट व प्रभावहीन होती जा रही थीं। लोग आस्थाहीन हो गए थे। हड़तालें एक आम बात थीं। पूरे देश में संकट का एक सामान्य भाव व्याप्त था। उस समय की सरकार ठप्प हो गई थी। समाजवादी उसकी जगह ले सकते थे परंतु उनमें ऐसा करने का पर्याप्त साहस नही था। इसी दौरान बेनटो मुसोलिनी (1883-1945) के नेतृत्त्व में फ़ासीवादियों ने उस स्थिति का लाभ उठाना शुरु कर दिया। मुसोलिनी की यह मान्यता थी कि साम्यवाद की अपेक्षा राष्ट्रवाद कहीं अधिक सक्षम तत्त्व है। अक्टूबर 1922 में, उसने रोम-प्रयाण का निर्णय लिया। यह प्रयाण मुसोलिनी के प्रधानमंत्री बनने के साथ समाप्त हो गया। राजनीतिक संस्थाओं की परवाह किए बिना, मुसोलिनी ने समूची व्यवस्था को निजी तानाशाही में परिवर्तित करने का कार्य शुरू कर दिया।

जर्मनी में तो युद्ध के बाद की हालत और भी खराब हो गई थी। जर्मनी युद्ध में हार गया था। युद्ध-अपराध प्रावधानों ने उसे घोर दोषी ठहराया था। मित्र देशों ने युद्ध की सारी जिम्मेदारी जर्मनी पर डाल दी। तथा जर्मन गणराज्य को इस बात की अनुमति देने से भी साफ इंकार कर दिया कि वह अपने राज्य की आर्थिक संरचना में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाए। जब्त किए गए जर्मन क्षेत्र फ्रांस, पोलेंड तथा बेल्जियम को सौंप दिए गए। राइनलैंड पर इसलिए कब्जा किया गया ताकि जर्मनी मित्र देशों, विशेष कर फ्रांस को युद्ध-क्षतिपूर्ति की राशि दे दे।

जर्मनी को राजनीतिक दृष्टि से भी विभाजित कर दिया गया। उसे अंतर्राष्ट्रीय अपमान झेलना पड़ा। एडोल्फ हिटलर (1889-1945) के नेतृत्व में राष्ट्रवादी-समाजवादी जर्मन मज़दूर दल (एन.एस.डी.ए.पी अथवा नाज़ी दल) ने इस स्थिति का लाभ उठाया। जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई तथा बेरोजगारों की संख्या बढ़ती गई, वैसे-वैसे नाजी दल की सदस्य संख्या बढ़ती गई । जुलाई 1932 के निर्वाचन में नाजी दल कुल मतदाताओं का 37 प्रतिशत समर्थन पाने में सफल रहा। राष्ट्रपति हाइडेनवर्ग ने हिटलर को जनवरी 1933 में जर्मन राज्य का चांसलर नियुक्त किया। उसका अनुमान यह था कि एक बार सत्ता में आने के बाद हिटलर की कथित क्रांतिकारी गतिविधियों में अपनेआप कमी आ जाएगी। राष्ट्रपति के इस अनुमान के विपरीत, हिटलर ने मार्च 1933 में ही जनमत संग्रह का आदेश दे डाला। उसकी सरकार ने कुल मतों के 52 प्रतिशत मत अर्जित किए। इसने हिटलर की स्थिति को और मज़बूत कर दिया। हिटलर ने अपने विरोधियों को डरा-धमका कर संसद तथा निर्वाचकों का समर्थन अपने पक्ष में करने में सफलता प्राप्त की।

हिटलर तथा मुसोलिनी, दोनों ने क्रमश: अपने-अपने देश में एक नया शासन तथा व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। दोनों ही उदारवादी लोकतंत्र की कमजोरियों के प्रति आश्वस्त थे। वे राजनीतिक दलों की विकट गुटबाजी से घृणा करते थे। वे दोनों ही समान रूप से विदेशी सरकारों तथा देश में साम्यवाद के घोर निंदक थे। दोनों ने ही राष्ट्रवाद के अधिक एवं उच्चतर आदर्श के नाम पर वर्ग-संघर्ष से ऊपर उठने की कोशिश की थी।

फ़ासीवादियों का यह तर्क था कि राज्य ही राष्ट्र है तथा राज्य ही समाज है। उसका अपना विशिष्ट जीवन है। राज्य के बाहर किसी भी वस्तु का कोई महत्त्व अथवा मूल्य नहीं है। केवल राज्य के पास ही मूल्यों को समन्वित करने तथा जीवन के प्रत्येक पक्ष की व्याख्या, विकास व अभिव्यक्ति की क्षमता है। उदारवादी अपनी बात व्यक्तियों से शुरू करते है और उन्हीं के संदर्भ में राज्य को देखते हैं। फ़ासीवादी सिद्धांत इससे विपरीत दृष्टिकोण से प्रारंभ होता है। इसका तर्क है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह राष्ट्र-राज्य जैसी बृहत्तर व्यवस्था के बिना नहीं रह सकता। यदि वह स्वार्थी हो जाता है, तो वह समाज-विरोधी है। राज्य को पूरा अधिकार है कि वह उसे सुधार सके। व्यक्ति राज्य रूपी अंग की केवल एक कोशिका है। अपने इसी रूप में ही उसे सच्ची स्वतंत्रता की अनुभूति हो सकती है। वह तभी स्वतंत्र होता है जब वह राज्य से अपना तादात्म्य स्थापित करता है।

यदि यह मान लिया जाए कि राज्य शरीर है और व्यक्ति केवल उसकी एक कोशिका, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचना सरल है कि संपूर्ण शरीर की सुरक्षा के लिए कोशिका को दाव पर लगाया जा सकता है। राज्य इसे निर्मित करने वाले से बड़ा होता है। उनकी कल्पना का राज्य अपनेआप में एक आध्यात्मिक तथा नैतिक तथ्य है। मुसोलिनी ने यह घोषणा की थी कि "इतालवी राष्ट्र, उद्देश्यों, जीवन तथा कार्यसाधनों से युक्त एक ऐसी आंगिक-व्यवस्था है जिसकी व्यक्ति अकेले या मिलकर रचना करते हैं। वह एक नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक एकता है जो किसी फ़ासीवादी राज्य में ही संभव है।" इस प्रकार, राष्ट्र-राज्य के नाम पर, फ़ासीवादी उस वैयक्तिकता, प्राकृतिक अधिकार तथा न्यायिक स्वतंत्रता को नकार सके थे जो पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं में विद्यमान थी।

फ़ासीवाद अपनी प्रकृति में अधिनायकवादी भी है। वह सामाजिक संगठन में कठोर पदानुक्रमण स्थिति को स्वीकार करता है। यदि राज्य शरीर है तो नेता उसका मस्तिष्क है। वही शरीर की आवश्यकताओं का आकलन करता है और उनके सर्वश्रेष्ठ समाधान संबंधी निर्णय लेता है। एक अर्थ में नेता ही समाज

की सामान्य इच्छा की व्याख्या करता है। समाज के संदर्भ में निर्णय लेने की एकमात्र सत्ता वही है।

व्यक्ति मात्र एक कोशिका है। उसे प्रत्येक दशा में नेता के आदेशों को स्वीकार करना होगा। वह केवल कर्तव्यों का पालन करता है, अधिकारों का उपयोग नहीं। नेता का निर्णय कभी गलत नहीं हो सकता। उस पर कोई विवाद नहीं हो सकता। अत: प्रतिनिधि लोकतंत्र का फ़ासीवादी व्यवस्था में कहीं कोई स्थान नहीं हो सकता। उसका स्थान उक्त नेता व उसके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों की सरकार को लेना ही चाहिए। अकेले नेता ही समाज में घटित स्थितियों व प्रवृत्तियों को सुधार सकता है। फ़ासीवादी अपने नेता को 'डयूस' कहकर संबोधित करते थे जबकि नाज़ीवादी उसे 'फ्यूरर' कहते थे।

सिद्धांत

फ़ासीवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो इस मान्यता को लेकर चलता है कि राज्य किसी नैतिक कानून के अधीन नहीं है। राज्य स्वयं नैतिकता का सर्वोच्च सरंक्षक है। यह सर्वोच्च समुदाय है। ''मुसोलिनी सदैव सही है'' यह अति फ़ासीवादी दल का मूल मंत्र भी था। उसका उद्घोष था ''विश्वास, आज्ञापालन, संघर्ष''। इस उद्घोष में फ़ासीवाद ने ईसाइयत के एक प्रमुख तत्त्व से अपनेआप को जोड़ लिया था। वह धर्म को मानव-व्यक्तित्व की गहनतम अभिव्यक्ति मानता था। उसने धर्म की रक्षा व संरक्षण के प्रयास किए। यह दृष्टिकोण मुसोलिनी व पोप के सौहार्दपूर्ण संबंधों को स्पष्ट करता है। अतिवादी नाज़ीवाद ने तो राज्य-चर्च की स्थापना करने का प्रयास किया, यद्यपि वह उसमें कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

फ़ासीवाद ने बहुमत आधारित शासन, लोकतंत्र को अस्वीकार किया। उसने इस बात से स्पष्ट इंकार किया कि केवल संख्या के आधार पर ही समय-समय पर विचार-विमर्श के द्वारा कोई सरकार चलाई जा सकती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जनसाधारण की ग्रहण करने की क्षमता अत्यधिक सीमित है और उसकी समझ कम है। समानता के सिद्धांत का स्थान इस व्यवस्था में एक व्यक्ति के नेतृत्व के सिद्धांत ने ले लिया। इसे नीत्शे के 'महामानव का सिद्धांत' कहते हैं। लोकतंत्र का प्रतिमान एक ऐसे पिरामिड के समान है जो कि अपने शीर्ष पर संतुलित है।

यह सिद्धांत जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू माना जाता है। उदाहरण के लिए किसी उद्योग में मालिक नेता है और मज़दूर उसके अनुयायी हैं। इसी कारण साम्यवादी फ़ासीवादियों से घृणा करते है। उनके विचार में जर्मन संघ संहिता के अनुसार मालिक को नेता के रूप में और मज़दूर को अनुयायी के रूप में देखा जाना, पूंजीपतियों के सर्वसत्ताधिकारवादी इरादों पर पर्दा डालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उनकी दृष्टि में फ़ासीवाद के रूप में पूंजीवाद अपने को बचाने का अंतिम हताशापूर्ण प्रयास था। इस अर्थ में फ़ासीवाद मृतप्राय पूंजीवाद का परिचायक नहीं बल्कि जीवन के लिए संघर्षरत पूंजीवाद का परिचायक था। फ़ासीवाद ने वस्तुत: एक चतुर मुद्रा अपना ली थी। इसने सभी श्रमिक संगठनों को भंग कर दिया था। इसने मालिकों की पहल को भी परिसीमित कर दिया था। इसने पूंजीवाद को स्वीकार किया और लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श की अधीनता पर बल दिया। हिटलर ने यह घोषणा की कि यह देखना राज्य का कर्तव्य है कि ''पूंजी राष्ट्र की सेवक बनी रहे।'' नाजीवाद व फ़ासीवाद, दोनों ने अपने-अपने समष्टि राज्य (Corporate State) संबंधी विचार को विकसित किया। इस संदर्भ में हीगल के त्रि-वर्गीय विचार कृषि संबंधी, औद्योगिक तथा सार्वभौमिक अथवा शासन संबंधी वर्ग को आधार बनाते हुए मुसोलिनी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि ये वर्ग मार्क्सवादी अर्थ में प्रतिद्वंद्वी नहीं हैं बल्कि परस्पर पूरक है। राज्य इन तीनों

वर्गों को अपने-अपने हित-साधन का अधिकार देता था। उसका यह मत था कि मज़दूर अपना काम करें और मालिक अपना काम। दल, जो कि तीसरा तत्व है, हर हालत में इन दोनों पर शासन करे। मज़दूर व पूंजीपति दोनों इसके अधीनस्थ है। यह आशा की गई थी कि इस प्रकार की व्यवस्था पर आधारित राज्य, वर्ग-संघर्ष को समाप्त करेगा और सद्‌भाव स्थापित करेगा।

राज्य के राजनीतिक तथा नैतिक सर्वोच्चता-सिद्धांत का आशय था इन दोनों देशों में उग्र राष्ट्रवाद का उदय। दोनों ने ही स्थायी शांति की संभावना व उपयोगिता से इंकार किया था। उनके अनुसार युद्ध अपने उच्चतम तनाव की स्थिति में समस्त मानव शक्ति को अभिव्यक्ति देता है और व्यक्तियों में निहित सर्वोत्कृष्ट क्षमता को प्रकट करता है। हिटलर के अनुसार "युद्धस्थितियों में मानवता महान बनती है और बाह्य शांति की स्थिति में मानवता नष्ट हो जाती है"। हिटलर तथा मुसोलिनी, दोनों नए साम्राज्यों का सपना देखते थे।

जर्मन फ़ासीवाद का सर्वाधिक निंदनीय तत्व आर्य नस्ल का सिद्धांत था। हिटलर ने यह घोषणा की थी कि आर्य दुनिया में सभी नस्लों से श्रेष्ठ हैं और इस कारण वे शासन करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं। हिटलर के शासन का मूल उद्देश्य आर्य नस्ल की शुद्धता सुनिश्चित करना था। इस सिद्धांत के नाम पर उसने यहूदियों के खिलाफ जंग छेड़ दी थी। उन्हें गैस चेंबर्स में डाला गया तथा उनकी नृशंस हत्या कर दी गई। यहूदियों के विरुद्ध अपनेआप को बचाते हुए, हिटलर ने यह सोचा कि वह ईश्वर का सौंपा हुआ काम ही कर रहा है। नाज़ी शासन की समूची प्रकृति व शिक्षा-व्यवस्था, नस्ल संबंधी उद्देश्यों के द्वारा ही अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच सकती थी। हिटलर के अनुसार "जिन नवयुवकों का दायित्व राज्य पर है, उन के दिलोदिमाग में नस्ल की भावना कूट-कूट कर भरनी होगी।" स्वाभाविक रूप से मुसोलिनी हिटलर के शुद्ध नस्ल संबंधी दृष्टिकोण से सहमत नहीं था।

विभिन्न दृष्टिकोण

यहां फ़ासीवाद के चार दृष्टिकोणों का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा।

- कई प्रतिपादकों ने फ़ासीवाद को उदारवादी अर्थव्यवस्था के लिए खतरा बताया है। उन का मत है कि उदारवादी राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं अपना अपेक्षित कार्य पूरा करने में असफल रही हैं। इस असफलता के परिणामस्वरूप, फ़ासीवाद ने पूंजीवाद का स्थान ले लिया है।
- कुछ आलोचकों ने इसकी बराबरी सर्वसत्ताधिकारवादी व्यवस्था से की है। फ़ासीवाद नागरिकों पर पूरी रोक लगाता है जहां निजीकरण का कोई स्थान नही होता। मुसोलनी ने कहा है, ''राज्य में सब कुछ लिखित होता है, राज्य से बाहर कुछ भी नही होता, राज्य के विरुद्ध कुछ नही होता।'' शीतयुद्ध काल में जब फ़ासीवाद-साम्यवाद के पारस्परिक संबंध को उचित ठहराया गया था। तब ऐसे आलोचक काफी लोकप्रिय थे। 'नाजी-सोवियत समझौते' की व्यापक प्रशंसा हुई थी। हिटलर के नस्ल सुधार के प्रयासों तक स्टालिन के 'पवित्रीकरण अभियान' के बीच समानताएं बतलाई गईं। ऐसी व्यवस्था में भय तथा दमन को काफ़ी महत्त्व दिया गया। फ़ासीवाद तथा साम्यवाद की धारणाओं को निकट लाने के प्रयास किए गए। तदापि, उन की विचारधाराओं तथा मौलिक आधारों में मूल अंतर रहे हैं। फ़ासीवाद मध्यमवर्ग के हितों की रक्षा करता है। तथा चर्च एवं सेना जैसी पारंपरिक संस्थाओं का समर्थन करता है। जबकि साम्यवाद इन मूल्यों का विरोध करता रहा है।
- बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में फ़ासीवाद को दक्षिणपंथियों के उग्रवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया।

पारंपरिक विचारों को सामने रखा गया और उनको प्रोत्साहन दिया गया। फ़ासीवाद को दक्षिणपंथी के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में, अतीत से इसकी निरंतरता दिखलाई गई। ऐसे स्पष्टीकरण में राजनीतिक विचारधाराओं का महत्त्व बढ़ गया।

- फ़ासीवादी अपने विश्वासों तथा कार्यों को औचित्य प्रदान करने के लिए अक्सर रूसो, हीगल, नेत्शे आदि के लेखनों का प्रसंगानुसार उदाहरण देते थे। ऐसा वे केवल अवसरवाद से प्रेरित होकर ही करते थे अन्यथा यह संदिग्ध है कि हीगल, रूसो अथवा नेत्शे की वैचारिक गूढ़ता में उनकी कोई विशेष रुचि थी।

वैसे भी एक बार सत्ता में आने के बाद उन्होंने समाजवादियों, साम्यवादियों, नौकरशाही के उद्दंड सदस्यों, मजदूर संघों, यहूदियों और उन सभी अन्य लोगों का विनाश कर दिया, जो अर्ध-सैनिक बलों का विरोध करते थे। सामाजिक कल्याण की सर्वोच्चता के नाम पर उन्होंने राज्य-शक्ति का केंद्रीकरण किया तथा अधिकारों का उन्मूलन किया। उनकी आर्थिक नीतियां वास्तव में आंशिक रूप से सही थी। इटली व जर्मनी दोनों देशों का उद्देश्य आत्मनिर्भरता पाना था और इस दिशा में पर्याप्त प्रगति भी हुई। आर्थिक संकट ने इन दोनों देशों को प्रभावित किया था जिससे उभरने के पर्याप्त संकेत मिलते थे। दोनों ही अपने-अपने देश में एकता स्थापित करने में भी समर्थ हो सके थे। दोनों ने ही अपने-अपने राष्ट्र को प्रथम दर्जे की शक्ति बनाने में सफलता प्राप्त की थी। नाजीवाद व फ़ासीवाद दोनों ने जनसाधारण में नई आशाएं जाग्रत कीं। इन दोनों देशों में फ़ासीवाद विचारधारा ने सभी पर कितना अधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला था, इसका सही अनुमान लगाने के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के कथानक पर बने अनेक चलचित्रों को देखा जा सकता है।

विभिन्न राजनीतिक लेखनों ने फ़ासीवाद की अलग-अलग तरीके से व्याख्या की है। इन में निम्नलिखित चार दृष्टिकोण प्रमुख हैं :

- फ़ासीवाद उदारवादी राज्यों के लिए एक खतरा
- फ़ासीवाद उग्र सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का पूर्ववर्ती
- फ़ासीवाद उग्र दक्षिणपंथी विचारधारा
- फ़ासीवाद आधुनिकवाद के विरुद्ध एक विद्रोह

फ़ासीवाद का मूल्यांकन तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है- एक विचारधारा के रूप में, एक आंदोलन के रूप में तथा एक शासन-प्रणाली के रूप में। सैद्धांतिक दृष्टि से यह मानवतावाद के विरुद्ध है। यह मानवतावाद विरोधी था। यह राष्ट्र-राज्यवाद की सर्वोच्चता के नाम पर अधिकार एवं हित, स्वतंत्रता तथा समानता जैसे अत्यधिक अपेक्षित कुछ मूल्यों को नष्ट करना चाहता था।

सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाए, तो यह कहा जा सकता है कि उदारवाद जहां व्यक्तिगत हित के नाम पर एकता नष्ट करता है, वहीं फ़ासीवाद राज्य के नाम पर व्यक्ति की बलि चढ़ाता है। इस व्यवस्था में राज्द के नाम पर व्यक्ति को दाव पर लगाया जा सकता है। राज्य की वेदी पर उसकी बलि दी जा सकती है। 'राष्ट्र-राज्य' महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसे सरकार का पर्याय नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से सरकार केवल लोगों का समूह ही होता है जो राज्य के नाम पर कार्य करती है। जितना अधिक गौरव-गान हम राज्य का करते है उतना ही गौरव-गान उन व्यक्तियों का होता है जो राज्य के नाम पर कार्य करते हैं। इस स्थिति में हमारे प्रयास तानाशाही के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। समाज, विभिन्न संपूर्ण इकाइयों से मिलकर बनता है। राज्य का हित सदैव व्यक्ति के हित से उच्चतर नहीं हो सकता। इसीलिए महाभारत में यह मत प्रतिपादित किया गया था कि गांव के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है, प्रांत के लिए गांव की बलि दी जा सकती है तथा देश के लिए प्रांत का उत्सर्ग किया जा सकता हैं। परंतु आत्मा के लिए

संपूर्ण जगत का परित्याग किया जा सकता है। वैसे भी एक संपूर्ण इकाई के रूप में राज्य अकेला नहीं है। कई और भी राज्य विद्यमान हैं जिनकी अपनी अलग पहचान है। किसी भी एक इकाई को यह अधिकार नहीं है कि वह वैसी ही अन्य इकाइयों की स्वतंत्रता को कुचल दे। अतएव, किसी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अन्य राज्यों का विनाश करे।

सरकार की व्यवस्था के दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने पर यह कहा जा सकता है कि ऐसी सरकार जो मानव अधिकारों व हितों का उल्लघंन करती है वह लंबे समय तक नहीं चल सकती। तानाशाहों को मजबूरन अपने राष्ट्रों को उच्च भावात्मक स्तर तक उत्तेजित करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए वे पुरस्कार एवं दंड की ऐसी पद्धतियों का आविष्कार करते हैं जिनकी सहायता से वे सत्ता में बने रह सकें। हिटलर ने अतार्किक प्रचार, मिथकों व प्रतीकों के प्रयोग तथा विभिन्न नारों की पुनरावृत्ति द्वारा ऐसा किया। ऐसी कोई भी नीति अंततः आंतरिक क्षेत्र में हिंसा तथा बाह्य-परिवेश में युद्ध भड़काती है। फ़ासीवाद के उदय व पतन की कहानी इसी सत्य को प्रदर्शित करती है।

इटली में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात फ़ासीवाद एक आंदोलन के रूप में उभरा। 1922 में मुसोलिनी के आगमन के बाद यह आंदोलन और सशक्त हो गया। कुछ समय के उपरांत जब जर्मनी में हिटलर का प्रभाव बढ़ा तो फ़ासीवाद अनेक देशों में फैलने लगा। यह आंदोलन आस्ट्रिया, हंगरी, रूमानिया और स्पेन में भी पैर फैलाने लगा। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् फ़ासीवाद का मूलतः अंत हो गया। ऐसा अनुभव किया गया कि विशेषतया, सैन्य-विस्तारवाद तथा मानव अधिकारों का उल्लंघन मात्र हिटलर की फ़ासीवादी नीति का दुष्परिणाम था। संभवतः इसीलिए फ़ासीवादी का न केवल पूर्णतः अंत हुआ अपितु इसे संपूर्णतः नकार दिया गया, कटु आलोचना का शिकार हुआ और अंततः इसका परित्याग कर दिया गया।

यदि फ़ासीवाद का राजनीतिक व्यवस्था के रूप में मूल्यांकन किया जाए तो हम देखेंगे कि इस धारणा में एक दल, एक व्यक्ति और पुलिस का प्रभुत्व था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जहां राजनीतिक और सामाजिक क्रियाकलाप राज्य द्वारा ही नियंत्रित थे। यही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी फ़ासीवादी प्रशासकीय ढांचे को विस्तारवादी व आक्रामक मानते थे और इसीलिए यह मानव अधिकारों, प्रशासकीय व्यवस्था तथा राष्ट्रीय अस्मिता के लिए खतरनाक था। यह कहना गलत न होगा कि द्वितीय विश्व युद्ध ऐसी ही नीतियों का परिणाम था।

अभ्यास

1. फ़ासीवाद से क्या अभिप्राय है।
2. फ़ासीवादी सिद्धांत के किन्हीं चार कमजोरियों को बताइए।
3. 'फ़ासीवाद तथा लोकतंत्र एक-दूसरे के विरोधी हैं।' विवेचना कीजिए।
4. फ़ासीवाद की मुख्य विशेषताएं लिखिए।
5. टिप्पणी लिखिए :
   - (क) फ़ासीवाद तथा पूंजीवाद
   - (ख) फ़ासीवाद का वैचारिक दृष्टिकोण
   - (ग) जर्मन फ़ासीवाद का 'आर्य नस्ल सिद्धांत'

अध्याय 16

गांधीवाद

गांधी जी राष्ट्रीय आंदोलन के सर्वोच्च नेता थे। वे एक ऐसे विचारक भी थे जिन्होंने अपने समय की अधिकांश धारणाओं तथा विश्वासों को चुनौती दी थी। उनसे पहले राष्ट्रीय आंदोलन समाज के कुछ भागों तक ही सीमित था। उन्होंने उसे जनआंदोलन का रूप दिया। राजनीतिक क्रिया से संबंधित उनकी व्यूह रचना ने ही मुख्यत: अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलनात्मक विरोध के स्वरूप को निर्धारित किया था। 'स्वदेशी' तथा 'बहिष्कार' के विचार भारत में पहले से ही विकसित व प्रचलित थे लेकिन गांधी जी ने उन्हें अहिंसक सत्याग्रह के विचार से जोड़कर एक विलक्षण अर्थ प्रदान किया। उनकी राजनीतिक व्यूह-रचना ने भारतीय समाज के सभी वर्गों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ने का प्रयास किया। गांधी जी ने स्वयं इस बात से इंकार किया कि उनके विचारों को 'गांधीवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। परंतु यह कहना सही है कि उनके कुछ विचार ऐसे हैं जो मौलिक हैं तथा जिन्होंने अन्य विचारधाराओं की ही भांति विभिन्न लोगों पर अत्यधिक प्रभाव छोड़ा है। उनकी रचना *हिन्द-स्वराज* के अतिरिक्त गांधी जी का अधिकांश लेखन बिखरा हुआ तथा पुनरावृत्ति मात्र है। *हिन्द-स्वराज* की रचना गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन में कूदने से पूर्व की थी। इसके बावजूद, उनके लेखन में व्यक्ति व समाज की सुसंगत परिकल्पना है।

गांधी जी के प्रमुख विचारों को सार रूप में निम्नलिखित पांच शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है :

- पश्चिमी सभ्यता की समालोचना
- लोकतंत्र पर विचार
- स्वतंत्रता व राज्य
- स्वतंत्रता व आर्थिक संगठन
- संघर्ष समाधान की पद्धतियां

पश्चिमी सभ्यता की समालोचना

गांधी जी ने विवेकानंद तथा भारतीय पुनर्जागरण के अन्य नेताओं की भांति पश्चिमी सभ्यता की आलोचना की थी। उनके अनुसार पश्चिमी सभ्यता ऐसे सुविचारित तार्किक स्वार्थों पर आधारित थी जो मानव संबंधों को पूर्णत: अव्यस्थित करने में सक्षम थी। गांधी जी भारतीय सभ्यता के प्रशंसक थे। उनके विचार में विश्व में व्यक्ति के स्थान से संबंधित भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण अधिक संतोषजनक था। उन्होंने आध्यात्मवाद तथा व्यक्ति की आत्मखोज को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। गांधी जी की इस मत में गहरी आस्था थी कि केवल भौतिक हितों के रूप में व्यक्ति के आत्महित की कोई भी तलाश वास्तव में सामाजिक संघर्षों को ही बढ़ाएगी। उनका सादे, नैतिक व पवित्र जीवन संबंधी प्राचीन विचारों में विश्वास था। इस सब का यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि

वे प्रत्येक भारतीय धारणा या विचार के प्रशंसक थे। उदाहरण के रूप में, उन्होंने अनुसूचित जातियों के शोषण का जमकर विरोध किया और उनकी दशा सुधारने के लिए अन्य सभी लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान दिया।

गांधी जी पश्चिम में प्रचलित राजनीतिक लोकतंत्र के स्वरूप को भी पसंद नहीं करते थे। उन्होंने उदारवादी लोकतंत्र को 'मछली बाजार' कहकर अस्वीकार किया जिसमें लोग केवल अपने निजी स्वार्थों के लिए ही संघर्षरत रहते हैं। गांधी जी इस बात को मानते थे कि किसी भी सरकार को जनसहमति पर आधारित होना चाहिए लेकिन साथ ही उनकी यह भी इच्छा थी कि राज्य नि:स्वार्थ व्यक्तियों के शासन को चरितार्थ करे। उनके अनुसार ब्रिटेन में प्रचलित लोकतंत्र त्रुटिपूर्ण था क्योंकि वह संख्यात्मक आधार पर स्थापित था। उसमें जिसे भी 51 प्रतिशत मत (सीट) मिल जाएं, वह शासन का अधिकारी हो जाता था। इनकी यह इच्छा थी कि आम व्यक्ति को भी वैसे ही अवसर प्राप्त होने चाहिए जो सबसे बलशाली को उपलब्ध होते हैं। उनको उदारवादी लोकतंत्र के प्रति यह आपत्ति थी कि उसका वास्तविक प्रचलित अर्थ दलीय शासन अथवा यथार्थ में देखा जाए तो प्रधानमंत्री का शासन हो गया था जिनमें प्राय: उद्देश्य के प्रति निष्ठा का अभाव रहता था। इस पद्धति में प्रत्येक दल बिना परिणाम की चिंता किए सौदेबाजी के आधार पर जीतता था।

गांधी जी ने औद्योगिक सभ्यता को अनैतिक मानते हुए उसका तिरस्कार किया जिसका एक व्यवहारिक कारण यह था कि हमारा समाज प्रधानत: एक ग्रामीण समाज है। ऐसे समाज में ज्यादातर लोग कृषि पर आश्रित हैं। उनका यह विचार था कि ऐसे समाज में श्रम को बचाने हेतु कोई भी उपाय लोगों के जीवन में तबाही ला सकता है, किंतु बढ़ती उम्र के साथ-साथ प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) के प्रति उनका विरोध कम हो गया था। उन्होंने ऐसी किसी भी प्रौद्योगिकी को स्वागत-योग्य मानना शुरू कर दिया था जो बेरोजगारी न बढ़ाए, ग्रामीण हस्त-शिल्प तथा ग्रामीण जीवन की सादगी को नष्ट न करे।

गांधी जी के लोकतंत्र संबंधी विचार

1909 में *हिन्द-स्वराज* में महात्मा गांधी ने आधुनिक सभ्यता की संस्थाओं, संसद, न्यायालयों, पुलिस, सेना, मशीनरी, अस्पताल तथा रेलवे आदि के मूल्यों और भूमिका के प्रति अति नकारात्मक विचार व्यक्त किए। उनके मतानुसार, आधुनिक सभ्यता से संबंधित ये संस्थाएं नैतिकता से किसी भी प्रकार जुड़ी हुई नहीं है जबकि ठीक इसके विपरीत, "भारतीय सभ्यता की प्रवृत्तियां" नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देती हैं। संभवत: इसीलिए उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य संस्थाओं के स्थान पर एक वैकल्पिक आदर्श के रूप में वास्तविक गृह शासन 'स्वशासन' और 'स्व नियंत्रण' की प्रवृत्तियों पर बल दिया जो सत्य और अहिंसा के आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित थीं।

भारतीय जनसाधारण को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ने की प्रक्रिया के दौरान एक ही वर्ष में गांधी जी को अपने आधुनिक सभ्यता-संबंधी संस्थाओं के आरंभिक विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा गांधी के अपने विचारों में संशोधन का कारण न केवल उनकी स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका थी अपितु इसके साथ ही साथ राजनीतिक नेताओं और राजनीतिक विचारकों द्वारा उनकी पुस्तिका की आलोचनात्मक टिप्पणियां भी थीं। अतंत: 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के एक वर्ष के भीतर महात्मा गांधी को आधुनिक जीवन से संबंधित संस्थाओं जैसे संसद, न्यायालयों, मशीनरी, रेलवे, अस्पताल के संबंध में सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। *हिन्द-स्वराज*

में अपने पूर्व वर्णित विचारों को पूर्णत: नकराने के बजाय गांधी जी ने अनिच्छापूर्वक उन संस्थाओं को अंगीकार किया। उनके मतानुसार ये संस्थाएं "संसदीय स्वराज की प्राप्ति की दिशा में क्षम्य है।"

'संसदीय स्वराज' की संगठनात्मक विशिष्टताओं के अंतर्गत गांधी जी ने ग्राम-आधारित विकेंद्रीकृत संगठन को प्राथमिकता दी। वह इस व्यवस्था में सरकार के निम्नतम स्तर पर भी प्रत्यक्ष चुनाव का समर्थन करते थे। विकेंद्रीकृत संसदीय/लोकतांत्रिक स्वराज्य का ग्राम-आधारित मॉडल का समर्थन न तो कांग्रेस ने किया और न ही भारतीय संविधान द्वारा इसे अंगीकार किया गया। इसके बावजूद भारतीय संविधान में गांधी जी के कुछ आदर्शों, जैसे ग्राम पंचायत आदि को स्थान प्रदान किया गया है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त भी व्यैक्तिक तथा नागरिक स्वतंत्रताएं तथा लोकतांत्रिक अधिकार, जो संविधान के उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक दर्शन के अंग के रूप में संविधान में सम्मिलित किए गए हैं, मूलत: गांधी जी के अपने नैतिक-राजनीतिक दर्शन से संबद्ध हैं।

स्वतंत्रता व राज्य

राज्य की शक्ति में अभिवृद्धि को गांधी जी अत्यधिक भयानक मानते थे। उनकी दृष्टि में ऐसी कोई भी अभिवृद्धि वैयक्तिता के लिए अत्यंत घातक थी। गांधी जी के अनुसार राज्य 'केंद्रित रूप में हिंसा' का प्रतिनिधित्व करता था। उनका यह तर्क था कि "व्यक्ति के पास आत्मा है लेकिन राज्य एक आत्मा-रहित यंत्र है, उसे कभी भी हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका अस्तित्व ही हिंसा से निर्धारित हुआ है"। उनका भी स्वराज में विश्वास था जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना मालिक बन सके। गांधी जी प्राय: भारतीय समाज में व्याप्त आध्यात्मिक प्रभुता को पश्चिमी राजनीतिक प्रभुता के विपरीत मानते थे। उनके विचार में पश्चिम जहां 'क्रूर बल' को महत्त्व देता था वहीं प्राचीन भारतीय समाज ऐसे राजाओं को गरिमा-मंडित करता था जो अपनी तलवार की धार को नैतिकता की तलवार की धार से कम मानते थे।

उन्होंने एक ऐसे अहिंसक राज्य की कल्पना की थी जो जनता की स्वैच्छिक सहमति पर आधारित था और समाज की प्राय: सर्वसम्मति का प्रतिनिधित्व करता था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि यदि भारत को अहिंसक रास्ते पर चलते हुए अपना विकास करना हो तो उसे शक्ति का विकेंद्रीकरण करना ही होगा, क्योंकि एक व्यवस्था के रूप में "केंद्रीकरण, समाज की अहिंसक संरचना से असंबद्ध है।" गांधी जी न केवल राजनीतिक शक्ति के केंद्रीकरण के विरोधी थे बल्कि वह आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण के भी खिलाफ थे। वह व्यापक उत्पादन तथा बाद में व्यापक नियंत्रण पर आधारित उद्योगों के भी विरुद्ध थे। उनका यह विश्वास था कि किसी केंद्रीकृत राज्य-व्यवस्था में अमीर व गरीब लोगों में संघर्ष अपरिहार्य है। दूसरी ओर, विकेंद्रीकरण लोगों को उत्तरदायी व अहिंसक बनाता है। उससे लोगों में परस्पर सहयोग की भावना विकसित होती है।

गांधी जी का आदर्श राज्य पूर्णत: आत्म-नियमित था। गांधी जी ऐसा सोचते थे कि इस राज्य में हर व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा। वह अपने को इस प्रकार शासित करेगा कि वह अपने पड़ोसी के लिए कभी भी बाधा न बन सके। यही कारण था कि गांधी जी रामराज्य के प्रशंसक थे क्योंकि रामराज्य उनकी दृष्टि में त्याग व अनुशासन का मूर्त-रूप था। वे अबू बेकर तथा हजरत उमान को भी राम-सदृश मानते थे। लेकिन गांधी जी यह भी जानते थे कि ऐसा रामराज्य निकट भविष्य में निर्मित नहीं किया जा सकता। इसका एक प्रमुख कारण समाज की असमानताएं थीं, जिसमें

''कुछ लोग अमीरी का आनंद उठाते थे जबकि जनसाधारण के लिए खाने को भी पर्याप्त नहीं था।'' इस कारण, उन्होंने यह स्वीकार किया कि वर्तमान परिस्थितियों में कुछ अतिवादी मामलों में बलप्रयोग का सहारा लिया जा सकता है, किंतु उनकी यह मान्यता थी कि वही राज्य अच्छा है जहां लोगों पर कम से कम शासन हो।

गांधी जी की यह मान्यता थी कि पंचायतों के माध्यम से कार्यशील ग्रामीण गणराज्य लोगों को सहकारी कार्य सिखाते हुए उनकी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित करने में सफल होंगे। अत: उन्होंने ग्राम पंचायतों को अधिक से अधिक शक्तियां देने का आग्रह किया। इस व्यवस्था में प्रत्यक्ष गांव की आत्म-निर्भरता पर अधिक बल दिया और ऐसा करते हुए इस व्यवस्था में प्रत्येक गांव को अपने मामलों के निजी प्रबंध की क्षमता विकसित करनी थी। गांधी जी इस व्यवस्था के प्रशंसक इसलिए थे क्योंकि उसमें हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से परिचित होगा, साथ ही उसे यह भी ज्ञात होगा है कि ''उसे कोई भी ऐसी मांग नहीं करनी चाहिए जो दूसरा व्यक्ति उतना ही श्रम करके पाने का अधिकारी न हो।'' गांधी जी के समाज संबंधी विचारों को उनके इस उद्धरण के साथ समाप्त किया जा सकता है ''असंख्य गांवों से निर्मित इस संरचना में ऐसे घेरे होंगे तो सतत व्यापक होंगे परंतु किसी भी सत्ता का केंद्रीकरण नहीं होगा। जीवन कोई ऐसा पिरामिड नहीं होगा जिसका शीर्ष उसके तल पर आधारित हो बल्कि जीवन एक ऐसा सामुद्रिक वृत होगा जिसका केंद्र व्यक्ति होगा .... (ऐसा व्यक्ति) जो गांव के लिए मर मिटने को तैयार होगा, और यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि अतत: संपूर्ण व्यक्तियों से निर्मित कोई एक समन्वित जीवन न बन जाए।'' उन्होंने आगे और व्याख्या करते हुए यह भी कहा था कि ऐसी व्यवस्था में बाह्यतम परिधि आंतरिक वृत्त को कुचलने के लिए शक्ति संयोजित नहीं करेगी बल्कि वह अंतर्निहित सभी पक्षों को शक्ति प्रदान करेगा और स्वयं उनसे शक्ति भी अर्जित करेगा।

स्वतंत्रता व आर्थिक संगठन

मार्क्स की भांति गांधी जी ने भी श्रम पर बल दिया था। उनका यह विश्वास था कि श्रम ही वास्तविक संपत्ति है जो धन पैदा करती है और उसे बढ़ाती है। उनके विचार में ''संपत्ति का वास्तविक स्वामी वह है जो किसी सजग उत्पादनकारी उद्देश्य से कुछ सुनिश्चित श्रम का निवेश करता है।'' उनका यह विश्वास था कि बिना श्रम के तो व्यक्ति को एक समय का खाना भी नहीं खाना चाहिए। श्रम संबंधी ऐसा मनोभाव ही गांधी जी की दृष्टि में, आर्थिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करेगा जो बदले में हमें निर्भय बनाएगा तथा हमारे राष्ट्रीय चरित्र को और भी अधिक निखारेगा।

गांधी जी ने संपत्ति का पूरी तरह खंडन किया था। उन्होंने सदैव यह सोचा कि संपत्ति ईश्वर-प्राप्ति में एक बाधा है। एक बार चोरी होने के अवसर पर उन्होंने प्रेमचंद के 'गंगाबिहारी' के लिए दिए गए कथन का उल्लेख करते हुए यह मत दोहराया था कि ''यह एक वरदान ही है कि मेरे सब बंधन टूट गए हैं, अब मेरे लिए श्री गोपाल की सिद्धि आसान हो जाएगी।'' यद्यपि गांधी जी इस बात के प्रति सजग थे कि ऐसा पक्ष लेना सामान्यत: अव्यावहारिक है। अत: उन्होंने यह घोषणा की कि यदि कोई संपत्ति कानूनी रूप से अर्जित की जाए तो वह संरक्षण-योग्य है।

इसी संदर्भ में गांधी जी ने पूंजीपतियों व जमींदारों से न्यासी बनने का आग्रह किया था। उनका यह तर्क था कि इन लोगों को अपने किराएदारों तथा मज़दूरों और काश्तकारों को सह-स्वामी मानना चाहिए। जमीदारों

की जमींदारी अथवा उद्‌यम ऐसे लोगों के पक्ष में न्यास के रूप होने चाहिए। गांधी जी यह मानते थे कि पूर्ण न्यासिकता प्राप्त नहीं की जा सकती लेकिन उनके मत में यदि उसे पाने का सच्चा प्रयास किया जाए तो वह प्रयास ही इस दुनिया में समानता पाने की दिशा में बहुमूल्य योगदान होगा। ऐसा योगदान किसी अन्य पद्‌धति से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव हृदय-परिवर्तन ही उनकी दृष्टि में इस समस्या का सही उत्तर था।

राज्य स्वामित्व के विषय में गांधी जी क्या सोचते थे? क्या उनके मत में यह निजी स्वामित्व से बेहतर नहीं था? गांधी जी मानते थे कि वह बेहतर है लेकिन उन्होंने हिंसा के कारण उसे अस्वीकार किया। उनका विश्वास था कि ''यदि राज्य हिंसा द्‌वारा पूंजीवाद को दबाएगा तो वह स्वयं हिंसा की लपेट में आ जाएगा और कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा।'' यदि ज़मीदार अथवा पूंजीपति न्यासी बनने से इंकार कर दें और राज्य-स्वामित्व अपरिहार्य हो तो उस स्थिति में गांधी जी न्यूनतम राज्य स्वामित्व के समर्थक थे।

संघर्ष-समाधान की पद्‌धतियां

गांधी जी ने घृणा के बदले प्रेम की शक्ति विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। बहिष्कार व शांतिपूर्ण प्रतिरोध के स्थान पर उन्होंने अहिंसा तथा सत्याग्रह को अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने लिखा था कि साधनों को सही अर्थों में साधन होने के लिए उन्हें हमेशा शुद्‌ध होना चाहिए। उनके अनुसार अहिंसा हमारा परम कर्तव्य है। उन्होंने कहा था कि यदि हम साधनों की पर्याप्त परवाह करें तो निश्चय ही कभी-न कभी हम साध्य तक पहुंच ही जाएंगे। इस संदर्भ में उन्होंने अपने विचार थोरी, इमर्सन, टॉलस्टॉय तथा जैन परंपरा आदि से प्रभावित होकर विकसित किए थे। वह 'सरमन ऑन दि माउंट' से भी प्रभावित थे। उन्हें विश्वास था कि व्यक्ति को सत्य व अहिंसा से दीक्षित किया जाए। उनके मतानुसार सत्ययुक्त होकर व्यक्ति सर्वहित के लिए भौतिक परिस्थितियों को रूपांतरित कर पाएगा। भौतिक परिस्थितियां और वैयक्तिक चरित्र, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसमें गांधी जी के अनुसार वैयक्तिक चरित्र को वरीयता प्राप्त है क्योंकि केवल उसीमें भौतिक परिस्थितियों को स्थायी रूप से रूपांतरित करने की क्षमता है। न्यासिता और सत्याग्रह दोनों ऐसे ही साधन हैं।

सत्याग्रह दो शब्दों से बना है- 'सत्य' तथा 'आग्रह'। इसमें 'सत्य' सच्चाई का परिचायक है जबकि 'आग्रह' से 'बल', 'अनुरोध' तथा 'आत्म-शक्ति' का बोध होता है। किसी सत्याग्रही को अहिंसा तथा नैतिक विश्वास की दृढ़ता द्‌वारा ही हिंसा का विरोध करना चाहिए। गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह, अधिकारियों के प्रतिरोध का ही तरीका नहीं है, बल्कि वह प्रेम और नैतिकता द्‌वारा समाज में सत्य की प्रतिष्ठा का भी एक कारगर तरीका है। गांधी जी का यह दृढ़ विश्वास था कि हिंसा दूसरों को आघात पहुंचाती है जबकि सत्याग्रह संभवतः स्वयं सत्याग्रही को निजी पीड़ा दे सकता है। सत्याग्रही केवल जीतने की ही कोशिश नहीं करता बल्कि यह सार्वजनिक कल्याण व सत्य की खोज करता है जिसे गांधी जी ने ईश्वर का प्रतीक माना था। इसके बावजूद, यदि हिंसा तथा कायरता में से किसी एक को चुनना हो तो गांधी जी सदैव हिंसा को चुनने के पक्ष में थे।

सामाजिक अथवा राजनैतिक असत्य एवं हिंसा व्यवस्था का प्रतिरोध करने तथा उसको परिवर्तित करने हेतु सत्याग्रह गांधीवादी अहिंसा की एक राजनैतिक कार्रवाई है। गांधी जी के अनुसार शांतिपूर्ण प्रतिरोध की सत्याग्रह से तुलना करते हुए निम्नलिखित विशेषताएं

बताई गई हैं :

- जहां शांतिपूर्ण प्रतिरोधी अपने विरोधियों के प्रति घृणा रखते हैं, वहीं सत्याग्रही अपने विरोधियों के प्रति प्रेम-भाव रखते हैं।
- 'शांतिपूर्ण प्रतिरोधी', सत्याग्रहियों के विपरीत अपने विरोधियों को परेशान या क्षति पहुंचा सकते हैं।
- शांतिपूर्ण प्रतिरोधियों के विपरीत, सत्याग्रह अपने निकटतम एवं प्रियजनों के प्रति भी किया जा सकता है।
- शांतिपूर्ण प्रतिरोध कायरों और असहायों के द्वारा किया गया प्रतिरोध है, जिसमें हिंसा का प्रयोग सम्मिलित है, जबकि सत्याग्रह एक नैतिक राजनीतिक कार्यवाही है, जो साहसियों के द्वारा की जाती है, तथा इसमें हिंसा का प्रयोग वर्जित है।

सत्याग्रह के विभिन्न तरीके निम्नलिखित हैं :

- सत्याग्रहियों द्वारा शुद्धिकरण की कार्यवाही जैसे, शपथ, प्रार्थना और उपवास।
- असहयोग की कार्यवाही; जैसे बहिष्कार, हड़ताल, उपवास, हिजरत (ऐच्छिक बहिर्गमन)।
- सविनय अवज्ञा की कार्यवाही, जैसे धरना देना, करों को अदा न करना और कानून विशेष की अवमानना।
- समाज सुधार एवं समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम; जैसे सांप्रदायिक सदभावना एवं एकता को प्रोत्साहन देना, अस्पृश्यता निवारण, प्रौढ़ शिक्षा, आर्थिक एवं सामाजिक असमानता को दूर करना।

इस प्रकार गांधी जी ने अपने विचारों में राज्य, संपत्ति तथा औद्योगीकरण की गंभीर आलोचना की। उन्होंने वैकल्पिक मूल्यों तथा संस्थाओं को भी प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार असमानताओं, बाध्यकारी राज्य तथा प्रतियोगी पूंजीवाद के आधार पर बना कोई भी समाज वस्तुतः अनैतिक होता है। उन्होंने यह कहा कि यदि "सादा जीवन जीने योग्य है तो उसके लिए प्रयास करना सर्वथा उचित है।।" उनके कई विचार अस्पष्ट हैं। एक राजनीतिक व्यूह रचयिता के रूप में उनके चिंतन में निहित यथार्थवाद प्रायः उनके ही विचारों में विद्यमान आदर्शवाद के विपरीत हो जाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधी जी ने लगभग उन सभी प्रश्नों को उठाया जो आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से पूरी तरह प्रासंगिक हैं। इन प्रश्नों में राज्य शक्ति में अभिवृद्धि, नौकरशाही द्वारा उत्पीड़न, हिंसा का बढ़ता प्रयोग, बड़ी प्रौद्योगिकी के दुर्भाग्यशाली परिणाम आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिक सभ्यता की उनकी समालोचना अत्यधिक सारगर्भित है। इसी प्रकार, साध्य साधन के संबंधों का उनके द्वारा प्रतिपादन भी काफी विचारणीय है। इन सब संदर्भों में कोई भी विचारक उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि गांधी जी। उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान है आर्थिक व राजनीतिक विकेंद्रीकरण संबंधी उनका प्रबल आग्रह। राज्य के नीति निदेशक तत्त्व इसी गांधीवादी आग्रह का अनुसरण करने पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त आज विश्व भर के समाज वैज्ञानिक, अंतर्राष्ट्रीय विकास की विसंगतियों को दूर करने के लिए गांधीवादी विकल्पों पर पुनर्विचार व पुनर्व्याख्या करने को उत्सुक हैं। ये प्रयास आज की दुनिया में भी गांधी जी की पर्याप्त प्रासंगिकता सिद्ध कर रहे हैं।

अपनी इन समस्त वैचारिक विशिष्टताओं के बावजूद गांधी जी ने वैकल्पिक संस्थात्मक व्यूह रचना को पर्याप्त रूप से विकसित नहीं किया। जिसकी सहायता से आधुनिक काल में उनके विचारों को व्यावहारिक संदर्भ प्रदान किया जा सके। उदाहरण के लिए न्यास संबंधी अपने विचारों

को प्रस्तुत करते समय उन्होंने पूंजीपतियों की घोर स्वार्थपरकता पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यह ऐसे कई कारणों में से एक है जिसकी वजह से आजादी के बाद भारतीय जनता उनके विचारों को ठोस स्वरूप प्रदान करने में विफल रही। यद्यपि उन्होंने स्वयं संचालित राजनीतिक संघर्ष के औचित्य से भारतीय जनता को अच्छी तरह अवगत करा दिया था लेकिन वह अपने विचारों को ऐसी स्पष्टता नहीं दे सके जिससे भारतीय जनता को यह अनुभव हो कि नई राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था का उनके विचारों से भी संबंध हो सकता है। इसी कारण जहां गांधी जी के कई अनुयायी प्रेरणा के लिए यूरोपीय समाजवाद के प्रति आकर्षित हुए, वहीं अन्य गांधीवादी अहिंसा पर आधारित सामुदायिक जीवन के लिए सर्वोदय दर्शन की ओर उन्मुख हुए। अंततः यह कहा जा सकता है कि गांधी जी का महान योगदान इस बात में निहित था कि उन्होंने बीसवीं शताब्दी की ज्वलंत समस्याओं को उभारा। इस क्रम में उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि राजनीति, उद्योग तथा प्रौद्योगिकी को जीवन-आदर्शों के अधीन होना चाहिए। इसी कारण यह संभव है कि हम में से कुछ गांधी जी के विचारों से भले ही असहमत हों, लेकिन हम उनकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते।

अभ्यास

1. गांधी जी ने पश्चिमी सभ्यता की आलोचना किन आधारों पर की थी?
2. लोकतंत्र और राज्य पर गांधी जी के विचारों का वर्णन कीजिए।
3. राजनीतिक और आर्थिक विकेंद्रीकरण के संबंध में गांधी जी के विचारों का वर्णन कीजिए।
4. 'संघर्ष समाधान' क्या है? संघर्ष समाधान के लिए गांधी जी की पद्धति का वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (क) संसदीय स्वराज
   (ख) सत्याग्रह और शांतिपूर्ण विरोध
   (ग) सत्याग्रह की विधियां

अध्याय 17

मानववाद

मानववाद की अवधारणा का प्राथमिक रूप से उस विचारधारा से संबंध है जिसकी दृष्टि व्यक्ति की स्वायत्तता पर केंद्रित है। मानववाद शब्द के कई अर्थ हैं। सामान्यत: यह एक सिद्धांत है जिसके अनुसार, जैसा कि तजवेतन टोडोराव का कथन है, "मानव मानवीय कर्म का अन्तिम प्रस्थान बिंदु और संदर्भ बिंदु है"। मानववाद शब्द पहली बार संभवत: फ्रांसीसी विचारक मोंटेन के लेखन में आया है जहां उसने अपने चिंतन को धर्मशास्त्रियों के चिंतन के विपरीत प्रस्तुत किया। मानववाद, यूरोप में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय का परिणाम था और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दौरान हुई।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने मानववाद को इस प्रकार परिभाषित किया है: "एक दृष्टिकोण अथवा वैचारिक व्यवस्था जिसका संबंध मानव से है न कि दैवी अथवा अलौकिक पदार्थों से। मानववाद एक विश्वास अथवा दृष्टिकोण है जो सामान्य मानवीय आवश्यकताओं पर बल देता है और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए केवल तर्क संगत समाधान तलाशता है और मानव को उत्तरदायी एवं प्रगतिशील बुद्धिजीवी मानता है।"

मानववादी, मानव की क्षमता में विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि मानव में बहुत सामर्थ्य है और यदि उसे विकास का अवसर मिले और उसका पूर्ण विकास हो जाए तो मानव बहुत ऊंचा उठ सकता है। मानववादियों का मानव की अच्छी प्रकृति में विश्वास है। गांधी, रसल और टॉलस्टाय बीसवीं सदी के महान मानववादी थे। अपने प्रारंभिक लेखन में मार्क्स भी मानववादी था। मार्क्स की प्रारंभिक कृतियों में *इकोनॉमिक एंड फिलास्फिकल मैन्यूस्क्रिप्ट्स* (1842) सम्मिलित हैं जो 1848 में प्रकाशित *कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो* से पूर्व लिखी गईं थी। एम. एन. राय भी मानववादी थे हम उनके मानववाद के विषय में आगे के पृष्ठों में पढ़ेंगे। उनकी वैचारिक यात्रा लंबी थी। उसने अपनी यात्रा मार्क्सवाद से प्रारंभ की और उग्र मानववाद पर समाप्त की।

मध्य युग में, मानव को, ईश्वर के अधीन बना दिया गया था। उसकी पहुंच प्रकृति के गुप्त रहस्यों तक थी परंतु अंतिम विश्लेषण में वे पूर्णत: ईश्वर के प्रति समर्पित थे। इस परिप्रेक्ष्य में पुनर्जागरण और ज्ञानोदय से बदलाव आया। मनुष्य इस सृष्टि का केंद्र बन गया। अब उसका स्वतंत्रता से इच्छा करना और स्वयं अपना स्वामी बनना संभव होने लगा था। उसके पास अब परंपराओं और ईश्वर के आदेशों के स्थान पर अपने और अपने साथियों के लिए जीवन चुनने की स्वतंत्रता थी। इसका अभिप्राय: यह था कि अब उसके पास अपना घर और अपना व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता थी। धार्मिक ग्रंथ व परंपराएं अब उसके लिए गौण थीं। यद्यपि धर्म अभी भी अपनी भूमिका निभाता रहा था; तथापि महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य को सत्य और असत्य, ठीक और

गलत, न्याय और अन्याय तथा अच्छे और बुरे में भेद करने का विवेकपूर्ण अधिकार मिल गया।

मानववादी चिंतन में मनुष्य अपने निजी जीवन में स्वतंत्र होता है। वह न केवल अद्वितीय है, अपितु भिन्न भी है जो कभी दूसरा नहीं हो सकता। नैतिक जीवन के नियम निर्धारण के लिए उसने अंतर्निहित प्राकृतिक अधिकार भी प्राप्त किए। बाद में इसके साथ एक अन्य पक्ष और जुड़ा जब मानव ने सार्वजनिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता का दावा किया और राजनीतिक शासन चुनने के अपने अधिकार पर बल दिया। इस प्रकार लोकतंत्र, सरकार का एकमात्र वैध रूप बन गया। यह आंदोलन 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, अमरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दौरान, पूरे ज़ोर पर था। दोनों क्रांतिया इस विचार से प्रेरित थीं कि कोई भी सत्ता/शक्ति, भले ही वह परंपरा, परिवार अथवा राज्य हो, मनुष्य की इच्छा से श्रेष्ठतर नहीं हो सकती।

इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप तीन मुख्य अवधारणाएं उभरीं :

भौतिकवाद

क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व संदिग्ध है और मानव पूर्णरूप से अपना स्वामी है, वह स्वयं अपने मूल्य निर्धारित करेगा और भौतिकवादी होगा। आधुनिक विज्ञान तर्क की भूमिका पर बल देता है, और प्रकृति तथा इतिहास के संपूर्ण रहस्यों को भेदने में तर्क की प्रासंगिकता और क्षमता पर विश्वास करता है। विज्ञान, तकनीक का निर्माण करता है और इस विचार की ओर प्रेरित करता है कि हम न केवल प्रकृति को समझ सकते हैं, अपितु इसे अपनी इच्छानुसार बदल भी सकते हैं।

व्यक्तिवाद

परंपराओं और पारिवारिक संबंधों का दबाव व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इसलिए व्यक्ति को अपनी स्वायत्तता के लिए जोर देना चाहिए तथा अपने हितों के अनुसार निर्णय करने चाहिए। स्वतंत्रता पुनर्जागरण का सबसे मूल्यवान उपहार है तथा हमें किसी भी कीमत पर इसे बनाए रखना चाहिए। ऐसा नहीं कि प्रत्येक ने इस स्थिति को पूर्णरूपेण स्वीकार किया। उदाहरण के लिए रूढ़िवादी अभी भी परिवार एवं परंपरा के मूल्यों के साथ चिपके रहना चाहते हैं। अन्य वे हैं जो सहभागी जीवन के मूल्यों को छोड़ना पसंद करते हैं, लेकिन मानववादियों का मानना है कि मनुष्य निजी अंतर्संबंधों में वस्तुगत समान स्थितियों को जीता है जैसा कि टोडोराव का कथन है कि "प्रत्येक की अपने साथ संवाद में अनूठी स्थिति है। प्रत्येक अकेला होता है और अपनी क्रियाओं के लिए स्वयं उत्तरदायी है।" सभी मामलों में अंतिम निर्णय अब व्यक्ति पर रहता है। उसे जीवन के प्रति सकारात्मक होना चाहिए। अपनी शक्तियों पर जोर देना चाहिए तथा दूसरों के संबंध में अपने हितों को निरंतर आगे बढ़ाना चाहिए।

लोकतंत्रवाद

मानव विवेक संपन्न है इसलिए उसमें अच्छे या बुरे का निर्धारण करने की क्षमता है और उसे अपनी राजनीतिक शासन प्रणाली चुनने का अधिकार है। लोकतंत्र, वैध सरकार का एकमात्र रूप है, क्योंकि यह लोगों की इच्छा के विचार पर आधारित है। मानववादी चिंतन राज्य संस्थाओं को संगठित करने के लिए आर्थिक-नीतियों के विषय में बहुत कम बताता है। मानववाद, सहिष्णुता एवं बहुलवाद के सिद्धांतों के इर्द-गिर्द एक निर्देशात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में ही संतुष्ट रहता है। इसके अनुसार कहीं कोई स्वर्ग नहीं है। विश्व अपूर्ण है और मानव प्राणियों को इसे सर्वोत्तम बनाना होगा।

भारत में एम.एन.राय ने मानववादी विचार को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने मानव को

एक केंद्र के रूप में माना है। उन्होंने लिखा है कि "स्वतंत्रता एक सर्वोच्च मूल्य है, क्योंकि स्वतंत्रता की इच्छा मानव अस्तित्व का सार है।" एम.एन.राय ने मानववाद को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि मानववादी हमेशा जीवन के प्रति यह मान्यता लेकर चलते हैं कि मानव प्राणी सार्वभौम होता है। सामान्य शारीरिक क्रियाओं से सर्वथा भिन्न मनुष्य की ज्ञानार्जन की अद्भुत क्षमता, उसे ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिससे दूसरों पर शासन न करके वह मानवता के हित में स्वतंत्रता का सृजन करता है।

यह मानववादी चिंतन का ही श्रेय है कि हम कुलीनतंत्रीय युग से लोकतंत्रीय युग में आ गए हैं, जिसमें सभी को स्वतंत्र एवं समान माना जाता है। इसने व्यक्ति को न केवल ईश्वर से अपितु कुल मिलाकर उन सब विचारधाराओं से भी सचेत किया है, जो इतिहास की काल्पनिक दृष्टि अथवा अस्पष्ट सार्वभौमिक अवधारणाओं और राष्ट्रवाद जैसे सिद्धांतों द्वारा व्यक्ति को पराधीन बनाए रखने का प्रयास करते हैं। एक निर्धारक सिद्धांत के रूप में इतिहास पर बल अंततः साम्यवाद तथा वर्ग संघर्ष के नाम पर साम्यवादी शासनों से जुड़े अत्याचारों की ओर ले गया। प्रजातियों एवं राष्ट्रवाद पर जोर, फासीवादी शासन प्रणालियों के रूप में सामने आया है, जिसमें व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया गया। मानववाद ने तकनीकी प्रभुत्व को भी अस्वीकार कर दिया है। मशीन मानव प्राणियों की सेवा के लिए हैं, न कि मानव मशीनों के लिए हैं।

मानववाद का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि यह व्यक्ति की स्वायत्तता पर जोर देता है। यह सही है कि व्यक्ति एकाकी जीवन नहीं जी सकता बल्कि दूसरों के साथ ही जीवनयापन करता है। मानववाद का महत्त्व यह है कि अंतिम विश्लेषण के तौर पर यह व्यक्ति की स्वयं की विशिष्टताओं एवं नैतिक महत्त्व पर बल देता है। सभी नागरिक समाज के समान सदस्य हैं। महत्त्व उनकी सादृश्यता में नहीं वरन् उनकी विशिष्टताओं एवं भिन्नताओं में है। समाज, अच्छे और बुरे लोगों से बना है। ऐसे लोगों से, जो परस्पर सहयोग कर सकते हैं और नहीं भी, जो एक-दूसरे की क्षति कर सकते हैं और नहीं भी। मानववाद में यह माना जाता है कि बहुलता के परिप्रेक्ष्य में ये सभी व्यक्ति साथ-साथ रह सकते हैं। राज्य, विज्ञान, तकनीक आदि सभी इस लक्ष्य के साधन हैं, जो कि व्यक्तियों के उत्कर्ष को संभव बनाते हैं। राज्य, विज्ञान एवं तकनीक अपनेआप में लक्ष्य नहीं है एवं उन्हें मानव जीवन पर प्रभुत्त्व की अनुमति नहीं दी जा सकती।

अभ्यास

1. मानववाद क्या है?
2. एम.एन. राय के मानववाद के विचार को स्पष्ट कीजिए।
3. मानववाद के संदर्भ में निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए :
   (क) भौतिकवाद
   (ख) व्यक्तिवाद
   (ग) लोकतंत्रवाद

उ धयों में किसी प्रकार का

उदारवाद (Liberalism) : एक ऐसा ... धारित है जैसे, सहमति तथा सहिष्णुता आधुनिक उदारवाद सांस्कृतिक उदार।

सर्वहारा (Proletariat) : मौलिक रूप से प्राचीन रोम का संपत्ति-हीन वर्ग जो सेवकों की जनसंख्या में वृद्धि करके रोम राज्य की सेवा करता था। सर्वहारा का सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग कार्ल मार्क्स ने किया जिसके अनुसार सर्वहारा वर्ग में उद्योग, कृषि व बौद्धिक पदों पर कार्यरत ऐसे लोग आते हैं जो अपना श्रम बेचकर जीवन-निर्वाह करते हैं। सर्वहारा इस प्रकार पूंजीवादी बुर्जुआजी से विपरीतार्थक वर्ग है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) : प्राकृतिक अवस्था उस पूर्व नागरिक और राजनीतिक अवस्था की परिचायक है जिसमें मानव संबंधों का नियमन प्रकृति के कानून द्वारा होता था। कुछ विचारों ने इसे पूर्व-सामाजिक अवस्था भी माना है। यह प्राकृतिक अवस्था आदर्शवादी थी तथा अधिक समय तक बने रहने की दृष्टि से असुविधाजनक थी। इसलिए मानव ने इस प्राकृतिक अवस्था का परित्याग करके एक राजनीतिक समाज का गठन किया।

श्रमिक संघवाद (Syndicalism) : मजदूर संघों का एक ऐसा आंदोलन जिसने सीधी कार्रवाई का समर्थन किया तथा जिसका रूप एक क्रांतिकारी आम हड़ताल के रूप में प्रकट हुआ यानी जिसका उद्देश्य मजदूरों का स्वामित्व तथा उद्योगों पर नियंत्रण स्थापित करना था। रॉबर्ट ओवेन के प्रभाव में यह विकसित हुआ तथा फ्रांस में इसका अधिक सक्रिय रूप प्रस्तुत हुआ साथ ही फ्रेंच शब्द 'सिंडिकेट' (मजदूर संघ) से उसका प्रचलित नामकरण भी हुआ।

श्रमिक संघ (Trade Union) : वेतनभोगी श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जो कार्य करने की शर्तों में सुधार करने और उनके स्व-हितों की रक्षा करने में योगदान करता है।

स्वप्न द्रष्टा (Utopia) : इसका संबंध आदर्श राज्य से है जहां किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती। यह एक ऐसी धारणा है जिसे व्यावहारिक रूप से उपलब्ध नहीं किया जा सकता। 1516 में थामस मूर द्वारा एक द्वीप की खोज जिसका नाम यूटोपिया था को खोज करने के पश्चात यह शब्द अत्यधिक लोकप्रिय हो गया।

राजनीतिक सामाजीकरण (Political Socialisation) : जिस प्रक्रिया के द्वारा मनोवृतियां, मान्यताएं एवं अभिमुखताओं का एक विशेष समुच्च एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होता है। उसे राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यह 'राजनीति के बारे में क्या, कब एवं कैसे जानते हैं', का अध्ययन है।

राजनीतिक सहभागिता (Political Participation) : यह एक ऐसी धारणा है जिसके द्वारा शासकीय सत्ता एवं जनसाधारण के मध्य निकटतम संबंध विकसित होता है क्योंकि इसके द्वारा शासन संचालन की प्रक्रिया में जनता की राजनीतिक क्षेत्र में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सदा प्रयास किया जाता है।

राजनीतिक विकास (Political Development) : राजनीतिक विकास की अवधारणा मुख्य रूप में तृतीय विश्व के देशों के उद्भव के पश्चात हुआ। इसके अंतर्गत विकासशील देशों के मध्य एक नैतिक, सदाचारी एवं राजनीतिक अच्छाई के रूप में विवेचन एवं विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा।